निवेदन

इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण के प्रकाशित होते-होते योरोपीय महा-युद्ध के कारण कागज और स्याही दोनों इतने मँहगे हो गये कि लेखक और प्रकाशक दोनों को पुस्तक का मूल्य बढ़ाये बिना एक अच्छी और लम्बी भूमिका लिखना और प्रकाशित करना कठिन प्रतीत होने लगा। ऐसे मँहगाई के समय पुस्तक का मूल्य बढ़ाना ठीक न समझ कर ही ऐसी भूमिका इस पुस्तक में न जोड़ी जा सकी है। फिर भी उन लोगों के विचार से, जिन्हें कॉलेजों में पढ़ने की सुविधा प्राप्त नहीं है, एक अत्यन्त संक्षिप्त भूमिका जोड़ दी गई।

निबंध और शैली के विशेष अध्ययन के लिए विद्यार्थियों और शिक्षकों को निम्नलिखित पुस्तकों का विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए।

विनीत—

हरिहरनाथ टंडन

सहायक ग्रन्थों की सूची

(१) हिन्दी-साहित्य में निबन्ध—ब्रह्मदत्त शर्मा, एम. ए. : प्रकाशक गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा।

(२) आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास—कृष्णशंकर शुक्ल; प्रकाशक हिन्दी-साहित्य-कुटीर, बनारस सिटी।

(३) हिन्दी-गद्य-शैली का विकास—प्रो० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प्रकाशक नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी।

भूमिका

विज्ञान की उन्नति, बौद्धिकता का प्रभाव, भाव-प्रकाशन में स्पष्टता की प्रवृत्ति ने साहित्य में गद्य का आविर्भाव किया और इन्हीं प्रवृत्तियों के क्रमागत विकास ने गद्य में निबंध को जन्म दिया। निबंध, आज के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाला निबंध, वर्तमान युग की देन है। आज उपन्यासों के स्थान पर गल्प का अधिक आदर है। नाटकों का स्थान एकांकी नाटक ले रहे हैं और इसका श्रेय वर्तमान युग के जटिल और संघर्षमय जीवन, मानव-हृदय की अति व्यस्तता तथा थोड़े में अधिकाधिक रस और आनंद ग्रहण करने की व्यापारिक वृत्ति को दिया जाता है। किन्तु, निबंध के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई धारणा बनाना अधिक उचित न होगा। निबंध किसी का स्थान नहीं ले सकता और निबंध का कोई स्थान नहीं ले सकता। वह अपने स्थान में स्वयं स्वाभाविक और पूर्ण है तथा गद्य के नैसर्गिक विकास और परिष्कृत मनोवृत्ति का अनिवार्य परिणाम है।

निबंधों को। अंगरेजी के एक प्रसिद्ध निबंध-लेखक के अनुसार, निबंध शान्त मस्तिष्क के बिखरे और अव्यवस्थित विचार हैं। इससे व्यक्तित्व, स्वतंत्रता और संक्षिप्तता का गहरा पुट रहता है। हिन्दी में निबंध शब्द अंगरेजी के बहुत कुछ इसी आदर्श को मानकर चला है।

निबंध के रूप

निबंध यद्यपि एक आकस्मिक प्रयत्न माना गया है, पर साधारण दृष्टि से इसके दो भेद हो सकते हैं। (१) पहले से सोचकर किसी निश्चित विषय पर विचार-प्रकाशन (२) अव्यवस्थित रूप से आकस्मिक विचारों को प्रकट करना। पहले प्रकार के निबंध कई दृष्टियों से लिखे जा सकते हैं—

१—वर्णन-प्रधान—जिसमें बाह्य वस्तु मुख्य तथा विचार और भावों की न्यूनता हो।

२—कथा-प्रधान—जिसमें किसी प्राचीन कथा को कल्पना तथा भावुकता का रंग देकर सजीव और नवीन रूप से चित्रित किया जाय।

३—विवेचना अथवा तर्क-प्रधान—जिसमें बाह्य वस्तु की अपेक्षा बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता होती है। इसमें गुण-दोष-विवेचन, तर्क तथा विचारों के संघर्ष को स्थान मिलता है।

दूसरे प्रकार के निबंध वे होते हैं, जिनका जन्म किसी निश्चित उद्देश्य पर आधारित नहीं होता। इनका सम्बन्ध बुद्धि की अपेक्षा हृदय से तथा तर्क की अपेक्षा भावुकता से अधिक होता है। ऐसे निबंधों में भाषा और भाव एक-रूपता धारण कर लेते हैं। इनमें विषय बिलकुल नगण्य और व्यक्ति की आत्मानुभूति मुख्य बन जाती है। इस प्रकार के निबंध कल्पना और अनुभूति को साथ लेकर चलते हैं और लेखक की साधना अथवा चिन्तन का सहयोग पाकर अमर साहित्य की सृष्टि करते हैं।

निबंध और शैली

लेखक की कसौटी गद्य है और गद्य की कसौटी निबंध। निबंध के साथ शैली (style) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शैली के सम्बन्ध में लोगों में बड़ा मतभेद है। प्राचीन शास्त्रकारों ने शैली और रीति को समानार्थी भावों में

व्यक्ति सर्वंव वही नहीं रहता, उसमे कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन होता रहता है, उसी प्रकार एक ही लेखक की शैली भी बदलती रहती है। इसलिए, किसी लेखक की शैली पर विचार करते समय हम उसकी आंतरिक विशेषताओं पर कुछ भी कहने में असमर्थ होते है। हम केवल उसके वाह्यरूप पर ही कुछ विचार प्रकट कर सकते है। वे वस्तुएँ है—शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास एवं अलंकार-विधान।

शब्द-योजना

शब्द ही भावों का आदान-प्रदान करते है। उत्तम लेखक इनका चयन करके वाक्यों मे इस प्रकार प्रयोग करता है, जिससे कम-से-कम शब्दों मे प्रभावात्मक रीति से अधिक-से-अधिक भावो को प्रकट किया जा सके। शब्दो के विवेचन मे हमे उनकी शक्ति गुण और वृत्ति की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्दो की तीन शक्तियाँ मानी गई है। ये वास्तव मे समुचित और अभीप्सित अर्थ प्रकट करने के तीन साधन है। अभिधा वाच्यार्थ को प्रकट करता है। लक्षणा वाच्यार्थ से संबद्ध किसी अन्य अर्थ की ओर संकेत करता है और जब इन दोनों से काम नही चलता, तब व्यंग्यार्थ-द्वारा एक नवीन अर्थ की कल्पना की जाती है।

इसके साथ ही हमे शब्दो के गुणों की ओर भी देखना होता है। माधुर्य-ओज और प्रसाद-गुण विभिन्न रसो के प्रकट करने में सहायक होते है। इन गुणो को प्रकट करनेवाली वैदर्भी, गौडी और पाचाली के नाम से तीन रीतियाँ मानी गई है। ये शब्द स्थान-विशेष के द्योतक न होकर, प्रणाली के द्योतक है। उत्तम लेखक को शब्द-चयन करते समय इन सभी उपादानो का ध्यान रखना पडता है; क्योंकि उसका उद्देश्य अपनी रचना को अर्थ-पूर्ण, सजीव, रोचक तथा प्रवाहयुक्त बनाना होना है।

भाषा-विज्ञान के अनुसार तात्पर्य की दृष्टि से भाषा का चरमावयव

बनाते हैं और अर्थ-प्रकाशन के कार्य में सहयोग देते हैं। जिन भावों को प्रकट करने के लिए कई वाक्यों की आवश्यकता होती है, वे एक अलंकार के प्रयोग के द्वारा सरलता से प्रकट किये जा सकते हैं। निबंध-लेखक, अपनी बात को संक्षिप्त और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए भाषा में अलकारों का विधान करता है।

पश्चिमीय विद्वान मस्तिष्क और हृदय के आधार पर शैली के दो भेद और करते हैं—(१) रागात्मक और (२) ज्ञानात्मक। रागात्मक का सम्बन्ध भावों से है और ज्ञानात्मक का बुद्धि तथा विचारों से। अच्छे निबंधों में प्राय: थोडा-बहुत दोनों का ही सम्मिश्रण होता है। साहित्यिक निबंध केवल किसी एक विशेषता के ही कारण पूर्ण नहीं माने जा सकते। उनमें विचार, कल्पना तथा भावुकता सभी का सहयोग रहता है।

निबंध का क्षेत्र निश्चित करना बडा ही कठिन कार्य है। किसी छोटे-से-छोटे विषय से लेकर गंभीर-से-गंभीर विषय पर भी निबंध लिखे गये हैं और लिखे जाते है। हमारे साहित्य में आचार्य शुक्लजी-जैसे साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबंधकार तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र-जैसे मनोरंजक तथा साधारण-से-साधारण विषयों को सजीव बना देनेवाले निबंधकार मौजूद है। वास्तव मे निबंध का कोई क्षेत्र सीमित नही किया जा सकता। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अनेक छोटे और बडे सभी विषयों पर निबंध लिखे जा सकते है। यह पहले कहा जा चुका है, कि निबंध का सम्बन्ध विषय की अपेक्षा व्यक्ति से अधिक होता है। निबंध-लेखक भी उस कवि की भाँति होताहै, जो अपनी कला के प्रकटीकरण के लिए किसी बाह्य उपादान की अपेक्षा नहीं करता। निबंध-लेखन मे केवल शक्ति और प्रतिभा की आवश्यकता है।

निबंध का क्षेत्र

नाटककार, नाटक के लिए प्रारम्भ यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम, वर्ण्य विषय की दृष्टि से अनेक बाते आवश्यक मानते हैं किन्तु

निबंध के विधान में ऐसे किन्हीं पूर्व-निश्चित तत्त्वों की आवश्यकता नहीं होती। निबंध-लेखक शास्त्रीय परंपराओं और नियमों को अपना आधार मानकर नहीं चलता। वह तभी लिखता है, जब लिखना चाहता है और उतना ही लिखता है, जितने की वह आवश्यकता अनुभव करता है। किन्तु, बाह्यरूप को देखकर हम एक निबंध को तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) लेखक जब प्रारम्भ करता है। इस समय लेखक के मस्तिष्क और हृदय में विचारों और भावों की टकराहट होती है। उसके प्रारम्भिक वाक्यों को देखकर हम अनुमान लगा लेते हैं कि लेखक क्या कहना चाहता है और किस प्रकार कहना चाहता है। लेखक की कुशलता की यहीं पर पहचान हो जाती है। (२) मध्य। इस स्टेज पर आकर लेखक अपने आपको पूर्णतया प्रकट कर देता है। या तो वह अपनी बुद्धि के सहारे विवेचना प्रारम्भ कर देता है, या भावुकता के द्वारा अपने हृदय को खोलकर रख देता है। यहाँ आकर लेखक वह सब कह देता है जिसके लिए उसने निबंध का सूत्रपात किया था। (३) अवसान। यह निबंध की अंतिम दशा है। इसमें लेखक या तो निष्कर्ष निकालता है या दार्शनिक अथवा निराशावादी बनकर आत्म-तुष्टि का प्रयत्न करता है। वह जोश और उत्साह, जो उसे निबंध के मध्य में प्राप्त होता है, यहाँ आकर शान्त होकर एक निश्चित धारा में विलीन हो जाता है।

निबंध का विधान

निबंध सुचारु रूप से लिखी गई उस विचार-व्याख्या को कहते हैं, जिसका आदि, मध्य और अन्त ठीक-ठीक रीति से बाँटा गया हो और जिसमें लेखक की शैली की अपनी निजी छाप हो और जिसमें वह नियम को बोधगम्य बनाने में पूर्णतया सफल हुआ हो। निबंधकार की योग्यता का पता उसके निबंध की आदि प्रस्तावना से ही लग जाता है। कभी-कभी प्रथम वाक्य ही उसकी शक्ति और उसके गुणों को स्पष्ट कर देता है, इसलिए सभी निबंधकारों को अपने प्रथम वाक्य को खूब सम्भालकर लिखना पड़ता है। उसके चुनाव में बहुत सावधानी से काम लेना होता है। निबंध का आदि:

निबंध की परिभाषा

का आरम्भ इस प्रकार से होना चाहिए कि उसके विषय का आभास हमें निबंध के आदि में ही मिल जाय। निबंध के आदि को लिखने में लेखक को पूरी योग्यता से काम लेना चाहिए।

निबंध के मध्य में लेखक को अपनी समस्त विचार-धारा को पाठक के सम्मुख रखना पड़ता है। निबंध के मध्य में उसे अपनी विचार-धारा को इस प्रकार से सजाना पड़ता है कि पाठक को उसके भाव एक निश्चित क्रम से प्रतीत होते जावें और वही उनको साफ़-साफ़ समझाने में सफल हो सके। जो लेखक जितनी अधिक सफाई से, जितने अधिक सुन्दर क्रम से अपने भावों को स्पष्ट रखने में समर्थ होता है, उसकी उतनी ही अधिक प्रशंसा होती है; इसलिए लेखक या तो विचार-प्रकाशन में एक निश्चित क्रम से काम लेता है, अथवा स्वाभाविक रीति से जैसे विचार उसके मन में आते हैं, वैसे ही उनको रखता जाता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विशद वर्णन, बाल की खाल निकालना यह सब निबंध के मध्य में ही सम्भव है और उसके लिए यही स्थान है। निबंध के मध्य में ही लेखक को सब से अधिक कौशल से काम लेना पड़ता है। उसे अपने विचारों को एक निश्चित क्रम से शृङ्खला में बाँधकर लिखना होता है, जिससे जिस विषय का वह प्रतिपादन करना चाहता है, उस पर उसके विचारों का प्रकाश बराबर पड़ता रहे और विषय स्पष्ट होता चले तथा उसके समझने में सरलता बनी रहे। ऐसा कभी न हो कि वाक्यों की बनावट या विचारों की अस्पष्टता के कारण लेखक अपने विचार पाठकों तक न पहुँचा सके। ऐसे निबंधों का कोई मूल्य नहीं होता जिनमें विचार-धारा भ्रमपूर्ण हो चाहे उनका आदि-अन्त कितना ही अच्छा क्यों न हो। इस प्रकार क्रम-क्रम से अपनी विचार-धारा को स्पष्ट करता हुआ लेखक जब अपने विषय का प्रतिपादन पूरी तरह कर लेता है, तब निबंध के उस भाग पर आता है, जिसे अन्त या परिणाम कहते हैं। निबंध के इस भाग में उसे विषय को फिर एक बार इस तरह से लिखना पड़ता है, जिससे स्पष्ट विषय अत्यन्त प्रभावशाली और संक्षिप्त रूप में हमारे सामने आ

जाय। लेखक अपने लेख के इस भाग को जितना अधिक-से-अधिक ठोस और प्रभावशाली बना सकेगा, उतना ही उसका निबंध उच्चकोटि का होगा। निबंध के इसी भाग में लेखक अपनी कृति पर पालिश करता है और उसके रूप-सौंदर्य को अधिक-से-अधिक चमका देता है।

निबंध के शरीर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि सभी लोग अच्छे निबंध-लेखक नहीं हो सकते। इसमें अध्ययन मनन और निरीक्षण-शक्ति की बड़ी आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त लेखक को लिखने का भी अच्छा अभ्यास होना चाहिए। अच्छे निबंध-लेखक के लिए आवश्यक है कि वह अपनी भाषा को अत्यन्त ओजस्विनी बनाने का पूरा प्रयत्न करे। शब्दों को तोल-तोलकर रक्खे और वाक्यों का प्रयोग भी ठीक से करे। इस कला में जहाँ एक ओर प्रतिभा साथ देती है, वहाँ अभ्यास से भी बड़ा काम चल जाता है। प्रतिभा के विषय में तो कुछ लिखना आवश्यक नहीं है; पर अभ्यास से बहुत लोग कुशल लेखक हो सकते हैं।

विद्वानो ने समस्त निबंधो को निम्नलिखित प्रकारों मे बाँट दिया है—

वर्णनात्मक (Desciiptive)
आख्यात्मक (Nariative)
विचारात्मक (Reflective oi subjective)
भावात्मक (Emotional)

ये चार प्रकार के निबंध प्रसिद्ध है। वर्णनात्मक निबंधो मे किसी स्थल का प्रत्यक्ष या कल्पनामय वर्णन होता है। नगर, ग्राम, नदी-तट यात्रा आदि के अत्यन्त भावपूर्ण और विचारपूर्ण निबंध इस श्रेणी मे स्थान पाते है। इस प्रकार के निबंधो का उद्देश्य होता है कि निबंध-द्वारा पाठक के सम्मुख किसी वस्तु या व्यापार का चित्र लाकर रक्खे, जिससे वस्तु या व्यापार का परिचय मिल जाय। ऐसे लेखो मे यथातथ्य वर्णन के अतिरिक्त कलापक्ष की ओर भी लेखक को ध्यान देना पडेगा। उसे अपने भावो को छोटे-छोटे वाक्यो और सरल भाषा मे व्यक्त करना पडेगा। ऐसे निबंधो की शोभा इसी प्रकार की शैली से बढती है। एक बात और ध्यान मे रखनी चाहिए कि इस प्रकार के लेखो की भाषा विषय के अनुसार बदलती रहेगी।

आख्यात्मक निबन्ध मे किसी काल मे बीती हुई कथाओ, घटनाओं, युद्धो और राजाओं के शासन आदि की परम्परा का क्रम से उल्लेख रहता है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि एक ऐतिहासिक और निबंधकार की रचनाओं में क्या अन्तर है? अब तो इतिहास और आख्यात्मक निबन्ध की सीमाएँ निर्धारित हो चुकी है। ऐतिहासिक अपने इतिहास मे बडी घटनाओं का ही केवल उल्लेख करेगा; परन्तु आख्यात्मक निबन्धकार छोटी-छोटी घटनाओ पर अधिक ध्यान देगा। एक ऐतिहासिक इस बात को नही लिखेगा कि युद्ध मे अमुक ने किस प्रकार तलवार चलाई, कैसे घायल हुआ आदि; पर निबन्धकार इन बातो पर ध्यान देगा। इतिहास मे कल्पना नही होती; पर ऐसे निबन्ध मे लेखक

कल्पना का अधिक उपयोग करके किसी घटना को सजीव तथा मूर्त चित्रित कर सकता है।

विचारात्मक निबन्ध, लेखक की कला का उत्कृष्ट रूप है। इसमें वह बुद्धि-तत्व और कल्पना-तत्व के उचित सम्मिश्रण से किसी विषय का इस प्रकार निरूपण करता है कि वह क्रमशः पाठक के मन पर अपना प्रभाव उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार के लेख में विचार, धारा-प्रवाह-रूप से क्रम-क्रम से सजाये जाते है। इसमें लेखक की विवेचनात्मक शक्ति की परीक्षा हो जाती है। ऐसे लेख लिखने के लिए एक विशेष प्रकार की प्रतिभा और योग्यता की आवश्यकता होती है। मौलिकता और शैली का अपनापन, दोनो का स्पष्टीकरण भी ऐसे ही निबन्धो मे होता है।

भावात्मक निबन्धों मे बुद्धि की अपेक्षा हृदय से अधिक काम लिया जाता है। इस प्रकार के लेखों में भाषा एक नया रूप धारण कर लेती है और लाक्षणिक प्रयोगो से भाषा का रूप खरा उतरता है। गद्य-गीत और गद्य-काव्य इसी प्रकार के निबन्धो मे आते है। भावात्मक निबन्ध बडे प्रभावोत्पादक होते है। सुन्दर भावात्मक निबन्धो का किसी मनुष्य के जीवन पर उतना ही प्रभाव पडता है, जितना किसी कवि की सुन्दर कविता का। भावात्मक निबन्ध से पाठक के हृदय मे रस का उद्रेक होता है। इनमे भाषा और भाव का अनुपम सौन्दर्य पाया जाता है। गद्य-गीतो का आरंभ बंगाली साहित्य के आधार पर हुआ। उनमे और भावात्मक निबन्धो मे कुछ अन्तर है। दोनो मे लेखक का व्यक्तित्व पाया जाता है और भावो की धारा का प्रवाह रहता है, परन्तु गद्य-गीतो मे एक ही प्रधान भावना को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाना पड़ता है और भावात्मक निबन्ध मे एक ही लक्ष्य की पूर्त्ति करनी पडती है।

शिवप्रसाद सितारेहिंद और राजा लक्ष्मणसिंह भी आदि काल के लेखक हैं। शिवप्रसाद मे उर्दू का उतना ही अधिक ज़ोर है, जितना राजा लक्ष्मणसिंह में संस्कृत का। शिवप्रसाद ने तो अपनी शैली मे उर्दू

का समा बाँध दिया था ; परन्तु राजा लक्ष्मणसिंह में अच्छी हिन्दी के दर्शन होते हैं। इनका झुकाव व्रज-भाषा की ओर अधिक था।

समस्त निबंध-साहित्य को ध्यान में रखकर ऐतिहासिक दृष्टि से उसे तीन कालों में बाँट सकते हैं—आदि-काल, मध्य-काल और वर्त्तमान-काल। आदि-काल का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है और मध्य-काल की गतिविधि के सुधार में तथा विकास में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बड़ा योग दिया है और आज-कल कई स्वनाम-धन्य लेखक इसके भंडार की पूर्त्ति कर रहे हैं। आदि-काल में न तो नियम ही निश्चित थे, न कोई शैली ही थी। आरम्भिक लेखक व्याकरण की भूलें करते और उनका वाक्य-विन्यास भी त्रुटि-रहित नहीं था। बीच के युग में द्विवेदीजी की प्रेरणा से इन त्रुटियों का बहुत संस्कार हुआ। वर्त्तमान समय तक आते-आते अब सभी दृष्टियों से निबंध शुद्ध होता जा रहा है।

प्रमुख निबंध लेखक

हरिश्चन्द्र

इनके अनन्तर एक ऐसे व्यक्ति का आविर्भाव हिन्दी-साहित्य में हुआ, जिसका हिन्दी-साहित्य सदा ऋणी रहेगा। ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक का जन्म किसी साहित्य का नया रूप बना देता है। उस साहित्य में ऐसे लेखक से जागरूकता तथा सजीवता आ जाती है। हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु का वही महत्त्व है, जो अंग्रेज़ी में वर्षों के उपरान्त पोप आदि के साहित्य के बाद नई भावना को लेकर आनेवाले कवि वर्डसवर्थ का। रीति-काल में शृंगार को लेकर ही रचना की जाती थी। शृंगार का नंगा नृत्य हो रहा था। गंदी नालियों में बहनेवाले साहित्य को सुन्दर स्रोत में परिणत करने का श्रेय भारतेन्दु को ही है। उन्होंने हिन्दी को सब कुछ दिया—नये विषय, भाव तथा नई शैली। देश-प्रेम आदि विषयों पर रचना की। नाटक का आरम्भ हिन्दी में भारतेन्दु से ही मानना चाहिए। निबंध भी भारतेन्दु के आने से ही हिन्दी में प्रधानता पाते गये।

भारतेन्दु की शैली अपना व्यक्तित्व प्रकट किये बिना नहीं रह सकती। भारतेन्दु के समय में दो शैलियाँ प्रसिद्ध थीं—एक तो शिवप्रसाद की उर्दू से भरी शैली और दूसरी राजा लक्ष्मणसिंह की। भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। न तो उन्होंने उर्दू को भरकर अपनी भाषा का अस्तित्व मिटाने का ही प्रयत्न किया और न उन्होंने ऐसा प्रण किया, जैसा इंशाअल्लाखाँ ने किया था। दोनों का सम्यक् मिश्रण ही भारतेन्दु का उद्देश्य था। भारतेन्दु ने लोकोक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग करके भाषा में शक्ति और चमक उत्पन्न करदी। इस प्रकार भारतेन्दु ने हिन्दी-गद्य साहित्य को एक नवीन वस्तु प्रदान की। भारतेन्दु को हिन्दी-गद्य का जन्मदाता कह सकते हैं। अपने निबंधों में भारतेन्दु बाबू ने राजनैतिक, धार्मिक और सामयिक विषयों का अच्छा वर्णन किया है। पर्वों और त्योहारों पर भी आपने छोटे-छोटे लेख लिखे हैं। होली, त्योहार, सूर्योदय, काश्मीर-कुसुम, सूरदास, कामदेव, कबीर, ईश्वर का वर्तमान होना, मित्रता, खुशी आदि आपके लिखे निबंध हैं। इन सभी निबंधों में भावों और विचारों का मेल है। अपने निबंधों में भारतेन्दु ने लल्लू लाल के ब्रजभाषापन, मुंशी सदासुखलाल के पंडिताऊपन, सदल मिश्र के पूर्वीपन, इंशाअल्लाखाँ के चुलबुलेपन, राजा शिवप्रसाद के उर्दूपन और राजा लक्ष्मणसिंह के आगरापन और आलिसपन को हटाकर अपना मध्य का मार्ग निकाला था। संस्कृत शब्दों के रहने पर भी इनकी भाषा में सुबोधपन है, फारसी-अरबी के शब्द रहने पर भी इन्होंने उर्दूपन नहीं आने दिया है। यह सब इनके नाटकों में हुआ। निबंध में शैली का व्यावहारिकपन और भाषा की स्थिरता नहीं आ सकी। नाटकों के अलावा निबंधों में टकसालीपन का प्रायः अभाव-सा है। किसी-किसी निबंध में साहित्यिक-सौन्दर्य पाया जाता है। ऐसे निबंधों में भावों और विचारों का मिश्रण पाया जाता है।

भारतेन्दु ने अपने निबंधों में उर्दू के ऐसे तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है, जो रोज काम में आते हैं; जैसे—आफत, जनाब आदि। कुछ

पण्डिताऊपन के शब्दों का प्रयोग भी प्राप्त होता है ; जैसे—वा (या), भई (हुई), करके (करा) आदि। हास्य भी इनके निबंधों में पाया जाता है। मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग भारतेन्दु ने किया है ; जैसे—हाथ-पर-हाथ धरे बैठना, गूंगे का गुड़ होना, आदि। कहीं-कहीं इनकी पंक्तियों से काव्यानन्द आ जाता है—"जहाँ गीतगोविन्द है, वहीं वैष्णवगोष्ठी है, वहीं रसिक-समाज है, वहीं वृन्दावन है। वहीं प्रेम-सरोवर है, वहीं भाव-समुद्र है, वहीं गोलोक है और वहीं प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द है।" विराम आदि की त्रुटियाँ तो इस काल के सभी लेखकों में मिलती हैं। निबंधों में सामयिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक वातावरण पर इन्होंने व्यंग्यात्मक छींटे खूब छोड़े हैं। इस प्रकार हरिश्चन्द्र ने भावात्मक-विचारात्मक-मिश्रित निबंध लिखकर हिन्दी-साहित्य में एक नये मार्ग का सूत्रपात किया।

पं० बालकृष्ण भट्ट

भट्टजी और प्रतापनारायण मिश्र, इन दो लेखकों का नाम साथ-ही-साथ लिया जाता है। इन लेखकों में विराम आदि चिह्नों की वैसी ही त्रुटियाँ पाई जाती हैं, जैसी भारतेन्दु में। भारतेन्दु ने भाव-विचार-मिश्रित निबंध का हिन्दी-साहित्य में सूत्रपात किया था, परन्तु साहित्यिकता का भाव पूर्णरूपेण भट्टजी के द्वारा निबंध में आया। साहित्यिक निबंध की वास्तविक शैली का आरम्भ भट्टजी-द्वारा हुआ। भारतेन्दु की भावात्मक शैली को भट्टजी ने आवश्यकतानुसार मोड़ा और उसको पूर्णता की ओर अग्रसर किया। हिन्दी-गद्य से इनकी तुष्टि नहीं थी, अतः उत्तम निबंधों के लिखने के ध्येय से ही इन्होंने लेखनी चलाई थी। 'साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है' नामक लेख में भट्टजी ने हिन्दी-गद्य के अभाव पर आँसू बहाये हैं। 'हिन्दी-प्रदीप' नामक मासिक-पत्र भी इसी विचार से भट्टजी ने निकाला था।

भारतेन्दु की भाँति भट्टजी ने भी सामयिक, राजनैतिक, साहित्यिक

तथा और गम्भीर विषयों पर अपनी लेखनी चलाई थी। भट्टजी की तीन प्रकार की शैलियाँ हैं। एक संस्कृत-प्रधान होती थी। दूसरी उर्दू की ओर कुछ-कुछ झुकती हुई और तीसरी में विदेशी शब्दों का अधिक प्रयोग करते थे। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि एक शैली तो शिवप्रसाद सितारेहिंदवाली, दूसरी राजा लक्ष्मणसिंहवाली और तीसरी भारतेन्दुवाली। संस्कृत-प्रधान शैली में आलंकारिक प्रयोग पाये जाते हैं। उर्दू-मिश्रित शैली में वे साधारण विषयों पर लिखा करते थे और मुहावरों का प्रयोग करते थे। विनोद-पूर्ण वक्रता इनके लेखों में पाई जाती है। आलंकारिक शैली के पक्षपाती होते हुए, इन्होंने उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा इत्यादि अलंकारों का प्रयोग किया है। इसका सुन्दर उदाहरण 'चन्द्रोदय' नामक लेख है।

विदेशी शब्दों का प्रयोग वे बराबर करते थे। कहकहे, गिलाशिकवा, बेतकल्लुफी, ख्वामख्वाह, संजीदगी, अज़हद आदि विदेशी शब्दों का प्रयोग उनमें पाया जाता है। अंग्रेज़ी के शब्द भी उन्होंने नहीं छोड़े हैं; जैसे—Art of conversation, formality, pulpit, intellect, character, feeling, philosophy आदि। ऐसा ज्ञात होता है कि इन शब्दों का प्रयोग भट्टजी ने उसी समय किया होगा, जब कि उन्होंने यह समझा होगा कि कोई हिन्दी शब्द अमुक स्थान पर इन अंग्रेज़ी शब्दों का भाव ग्रहण नहीं करा सकता। यही तक नहीं, कभी-कभी तो वे लेख का शीर्षक भी अंग्रेज़ी में ही रख देते थे। इससे उनके अंग्रेज़ी से परिचित होने का बोध होता है। संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य तथा बार-बार कालिदास, भवभूति आदि कवियों का उल्लेख, यह सिद्ध करता है कि वे संस्कृत के भी ज्ञाता थे। कुछ पंडिताऊपन के शब्दों का प्रयोग भी इनकी भाषा में मिलता है; जैसे—समुदाय, मुन्त्र, अधिराट, कदाच, आदि। मुहावरों का सुन्दर प्रयोग—जिनको आजकल के लेखक स्वयं समझते हैं—इन्होंने किया है। नशे में चूर होना, मोटे दाँत निकालना, काम तमाम करना, आदि मुहावरे अपने-अपने स्थान पर सुन्दर बन

पड़े हैं। सूक्तियों का प्रयोग भी इन्होंने किया है। लोकोक्तियों का प्रयोग कम किया है। शब्दों को ध्वनि के अनुरूप दोहराने की प्रकृति भी इनमें थी, जैसे—देखना-भालना, गँवार-सवार आदि।

उनके विषय-चयन में एक विशेषता थी। साधारण विषयों पर उन्होंने सुन्दर लेख लिखे हैं, जैसे—नाक, कान, बातचीत आदि। इस काल के सभी लेखकों में व्यक्तित्व की छाप पाई जाती है। प्रतापनारायण मिश्र और भट्टजी की शैली डंके की चोट इस की सूचना देती है कि मैं भट्टजी की शैली हूँ। शीर्षक और भाषा की भावभंगी स्पष्ट बता देती है कि यह भट्टजी की शैली है। उनकी "हिन्दी भी अपनी हिन्दी थी"। रोचकता एवं सजीवता इसमें पाई जाती है। मिश्रजी की ग्रामीणता की झलक इसमें नहीं पाई जाती। नागरिकता के दर्शन भट्टजी की भाषा में होते हैं।

उनके 'कल्पना', 'आत्म-निर्भरता' आदि भावात्मक लेख हैं। भट्टजी उस गद्य-काव्य के भी निर्माता हैं, जिसका प्रचार आज दिन बढ़ा हुआ है। भट्टजी ने इस प्रकार के पद्यात्मक गद्यों की भी भाव-पूर्ण रचना की है। इसके दर्शन 'आँसू' तथा 'चन्द्रोदय' नामक लेखों में होते हैं। उन्होंने भारतेन्दु की भावात्मक निबंध-शैली को आगे बढ़ाया। हिन्दी में विदग्ध साहित्य के आरम्भ करने का श्रेय इनको ही है। भारतेन्दु का विस्तार इनकी रचनाओं में नहीं है, फिर भी कई दिशाओं में इनका कार्य नवीन ही रहा।

पूर्णसिंह

अध्यापक पूर्णसिंह के थोड़े-से निबंध हिन्दी-साहित्य की एक अपूर्व अक्षयनिधि हैं। भाषा, भाव, विषय और शैली सब का एक सुसंगठित रूप भी इन लेखों की अपनी एक विशेषता है। अनूठे ढंग से विषय का प्रतिपादन करते हुए एक अध्ययन-सजीव शैली में अपनी बात कहने का ढंग आपको ज्ञात है, इस प्रकार विषय क्रम-क्रम से स्पष्ट होता चला

जाता है और कथन का प्रभाव भी अधिक पड़ता है। आपके वाक्यों और विरामों का क्रम कुछ निश्चित-सा है। कहीं वाक्य अत्यन्त छोटे हैं और कहीं उन्हीं के बीच एक बड़ा वाक्य मिल जाता है। विषय को समझाने की एक प्रबल चेष्टा लेखक की शैली में व्याप्त है। फिर भी न उसमें अस्वाभाविकता है, न कोई प्रयत्न। स्वाभाविकता ही आपकी शैली का सौन्दर्य है। आपसे पूर्व गम्भीर विषयों पर इस प्रकार के लेख साहित्य में बहुत कम थे। आगे चलकर यही शैली गम्भीर विषयों के लिए विद्वानों द्वारा प्रामाणिक मानी गई। अमूर्त भाव को मूर्त उदाहरण-द्वारा आपने अत्यन्त सरलता से स्पष्ट किया है।

नयनों की गंगा, आचरण की सभ्यता, प्रेम और मजदूरी, सच्ची वीरता इन चार निबंधों से ही सरदार पूर्णसिंह की प्रतिभा का आभास मिल जाता है। अपनी भाषा में उन्होंने उर्दू के चलते शब्दों का प्रयोग किया। फारसी और संस्कृत के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने किया। "सुफेद, निशा, मुयस्सर, असली, जोग, मामूली" आदि शब्दों का सुन्दर प्रयोग इनके लेखों में पाया जाता है। दूसरी ओर उनमें ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है; जैसे—"उदार-हृदया, सम्पन्न, ज्ञानोदय, मानसोत्पन्न" आदि। अतः हम कह सकते हैं कि व्यावहारिक भाषा-द्वारा भाव-प्रधान निबंधों को एक प्रकार से सर्वांगीण और पूर्ण बनाने का श्रेय सरदार पूर्णसिंह को ही दिया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

निबंध-लेखकों और आलोचकों के पथ-प्रदर्शकों में पं० रामचन्द्र शुक्लजी का नाम सदा आदर के साथ लिया जायगा। आप अपने समय के सर्वश्रेष्ठ लेखक थे। कठिन विषयों पर मौलिक निबंधों का आपने ऐसा श्रीगणेश किया कि आपके निबंधों की शैली को देखकर पाठक आपकी प्रतिभा की मुक्त कंठ से प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। भाषा और विषय दोनों की दृष्टि से आपकी रचनाएँ आदर्श मानी जाती हैं। इनकी ही गम्भीरता और

न्याय-पूर्णता के साथ आदि मध्य अन्त तीनों का निर्वाह आपके निबंधों मे मिलता है। आपके निबंधो मे विचार एक-एक वाक्य और पैराग्राफ मे ठूँस-ठूँसकर भरे गये हैं। एक वाक्य को पढते ही बुद्धि एक विचार-पद्धति को ग्रहण कर उसके अनुकूल या प्रतिकूल बुद्धि-शक्ति को उत्तेजित कर देती है। आपकी शैली पूर्णतया मनोवैज्ञानिक और तार्किक है। आपकी शब्द-सूची पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि आपने अपनी शैली मे जहाँ एक ओर तत्सम संस्कृत शब्दो को स्थान दिया है, वहाँ दूसरी ओर चलते हुए उर्दू शब्द, नये पारिभाषिक शब्द तथा अंगरेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। तत्सम उर्दू शब्दो और अंगरेजी शब्दो के प्रयोग से इनकी भाषा मे एक ऐसी स्वभाविकता उत्पन्न हो गई है, जिससे विषय अत्यन्त सरल प्रतीत होने लगता है और पाठक लेखकके मर्म को समझने मे अधिक-से-अधिक उसके पास खिंच जाता है। आपके निबंधो मे प्रतिदिन बोल-चाल मे बोले जानेवाले मुहाविरो का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। इनके निबंध अधिकतर विचारात्मक निबंधो की कोटि मे आते है। इनकी रचना मे एक शब्द भी वृथा न मिलेगा। विचारों की गहनता के कारण शुक्लजी के वाक्य कहीं-कही क्लिष्ट प्रतीत होते हैं; पर यह उनकी शैली का दोष नहीं कहा जा सकता। इनके वाक्यो के बीच ऐसी सुन्दर सूक्तियाँ मिलती हैं, जिन्हे देखकर चित्त चमत्कृत हो जाता है और जिनकी व्याख्या में कई पृष्ठ लिखे जा सकते है। इनका व्यंग वडा ही गम्भीर और प्रभाव-पूर्ण है। जहाँ कहीं इन्होंने व्यंग किया है, वहाँ उसने अमोघ अस्त्र का काम दिया है। पढते ही पाठक लोट-पोट हो जाता है।

प्रेमचन्द

हिन्दी-गद्य-लेखकों मे प्रेमचन्दजी जिस शैली के उन्नायक है और जितनी चलती हुई और मुहावरेदार व प्रभावशाली भाषा लिखने पर आपको अधिकार है, वह दूसरे किसी लेखक की शैली मे हमे देखने को नही मिलता। शब्द चाहे वह संस्कृत का हो, चाहे वह अरबी का; पर

जिस स्थान पर लेखक ने उसका प्रयोग किया है, वहाँ वह शब्द के कुछ प्रतिबिम्ब अंकित करने में ऐसा सार्थक होता है, कि उसके लिए खोजने पर भी दूसरा शब्द मिलता ही नहीं है। यही हाल अनेक मुहाविरों का है। चलती हुई धारा-प्रवाह भाषा के बीच वे इस प्रकार सजाये गये हैं, जैसे अँगूठी में नगीना। इन मुहावरों के प्रयोग से भाषा प्रसाद-पूर्ण हो गई है और पाठक पर जादू का-सा असर करती है। वाक्यों में छोटे, बड़े और लम्बे सभी प्रकार के वाक्यों का प्रयोग हुआ है; पर कथोपकथन या विषय की उपयुक्तता का ध्यान रखकर। इसके एक-एक शब्द में ओज, प्रसाद, और माधुर्य तीनों गुण वर्तमान हैं। भाषा सर्वथा व्यावहारिक है और प्रतिवाक्य का एक-एक शब्द लेखक की गहरी अनुभूति प्रकाशित करता है।

कहना ही क्या, हिन्दी के व्यावहारिक शब्दों के स्थान पर भी आपको संस्कृत के शब्द लिखना अधिक रुचिकर है। चौमुहानी या चौराहा लिखने के स्थान पर आपने चतुष्पथ ही लिखा है। कविता, नाटक और कहानी में आपने जिस मौलिकता का प्रचार किया है, वही मौलिकता आपकी भाषा की भी विशेषता है। संस्कृत की माधुर्य-पूर्ण पदावली के व्यवहार से आपने एक ऐसी शैली की उद्भावना की है, जो साधारण पाठक के लिए कुछ क्लिष्ट है; पर हिन्दी जाननेवाले के लिए न तो दुरुह है और न कठिन। मुहाविरों का प्रयोग आपने नाम-मात्र को भी नहीं किया है। संस्कृत-पूर्ण भाषा में ही आपने हृदय के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावों और दृश्यों का इस प्रकार वर्णन किया है कि उनका समस्त रूप झलक पड़ता है। आपकी भाषा काव्यमयी है और अलंकारों और अप्रस्तुतों का उसमें अनूठा विधान किया गया है। इन स्वतंत्र अलंकारिक प्रयोगों ने भाषा की श्री-वृद्धि की है।

प्रसादजी ने जो निबंध लिखे हैं, वे भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से अपनी निज की विशेषता और मौलिकता रखते हैं और उनके पीछे एक गम्भीर अध्ययन की भूमिका लगी हुई है। आपके निबंधों का पहला संग्रह 'चित्राधार' नाम से प्रकाशित हुआ था। इसके बहुत दिन बाद तक आपने कुछ लेख अपने नाटकों की भूमिकाओं में लिखे और अन्त में आपके निधन के पश्चात् आपके निबंधों का एक संग्रह 'काव्य और कला' के नाम से प्रकाशित हुआ।

आपके निबंधों में गम्भीर विचारों का ही प्रदर्शन अधिक मिलता है। प्रत्येक वाक्य एक दूसरे से सटा हुआ है और एक विचार दूसरे विचार का समर्थन करता हुआ वाक्यों के विस्तार के साथ-साथ विषय का सुलभ विवेचन करता चलता है। वाक्य न बहुत बड़े और न छोटे। अर्थ ग्रहण करने में यदि कहीं कोई कठिनाई है, तो वह इसलिए कि इनकी उपमाएं एकदम नई हैं और भाव-विवेचन अत्यन्त दार्शनिक है। प्रसाद के निबंधों में यह बात छिपाने की सामर्थ्य बिलकुल नहीं है कि वे किसी

और दार्शनिक की लेखनी से लिखे गये है। आपके निबंधों में एक बात अवश्य खटकती है कि आपने शैली में मौलिकता रखते हुए भी विषय को सरलता से समझाने का कोई प्रयास नहीं किया है और हास्य का तो उतना भी पुट नहीं दिया है, जिसके प्रयोग-मात्र से पं० रामचन्द्र शुक्ल ने शैली को अत्यन्त व्यावहारिक और प्रिय बना दिया है।

आचार्य श्यामसुन्दरदास

आचार्य श्यामसुन्दरदासजी ऐसी भाषा-शैली के जन्मदाता है, जिसका अनुकरण उनके समकालीन बहुत-से श्रेष्ठ कलाकारों ने किया है। द्विवेदीजी के समय में वही भाषा व्यावहारिक मानी जाती थी, जिसमें संस्कृत के साथ-साथ उर्दू और अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग हो। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने इसके प्रतिकूल संस्कृत शब्दावली से परिपूर्ण भाषा को ग्रहण करके अपनी शैली की प्रामाणिकता सिद्ध की और यह दिखा दिया कि किस प्रकार अपनी शैली कठिन-से-कठिन और नवीन विचार-परम्परा के योग्य हो सकती है। आपकी भाषा और भावों में सामंजस्य है। संस्कृत-शब्दावली-प्रधान होते हुए भी आपकी भाषा व्यावहारिक बनी हुई है। विचार-प्रधान निबंधों में आप विषय को सदा समझाते हुए चलते है। एक ही बात बार-बार दुहराई गई है। आपके वाक्यों मे समीकृत और मिश्रित वाक्य ही अधिकतर मिलेंगे। आपने मुहावरों का प्रयोग बिलकुल नही किया है, फिर भी शिष्ट समाज के लिए आपकी भाषा अत्यन्त साहित्यिक और व्यावहारिक बनी हुई है। आपने जिन विषयों पर लिखा है, उनमें हमारी भाषा मे पहले कुछ न लिखा गया था। इनकी भाषा मे एक प्रकार का ओज है, जो विषय की गम्भीरता के सर्वथा उपयुक्त है। आपने जो जीवनियाँ लिखी है, उनमें आपकी भाषा अपेक्षाकृत सरल है।

बाबू गुलाबराय

श्री गुलाबरायजी ने हिन्दी मे बहुत ही सुन्दर निबंध लिखे है, जिनकी तुलना श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ निबंधों से की जा सकती है। आचार्य डॉक्टर श्याम-

सुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल ने जिस शैली के निबंध लिखे हैं, उसी टक्कर के आपके भी निबंध है। आपने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबंध लिखे है। इन निबंधो से दो प्रकार की शैली का प्रयोग है। विचारात्मक निबंधो मे आपने संस्कृत के तत्सम शब्दो और चलते हुए मुहाविरों का प्रयोग किया है। अंगरेजी शब्दों और मुहाविरों का भी प्रयोग आपकी इस शैली मे हमे मिलता है। समाज और कर्त्तव्य-पालन निबंध मे Monarch of all I survey, Relativity of Ethics, Respect for life Personality. Charity begins at home. But it should not end there! आदि अंगरेजी शब्दो और वाक्यों का प्रयोग आपने किया है, पर साथ ही उसका पर्य्यायवाची शब्द लिखकर भाव या शब्द को हिन्दी की सम्पत्ति बना दिया है। समस्त विषय का प्रतिपादन अत्यन्त सरल और मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। संस्कृत श्लोक और उक्तियो का भी इस लेख मे सुन्दर प्रयोग है। सभी विचार अत्यन्त स्पष्ट और चारुरूप मे रखे गये हैं। वाक्य सरस और क्रमबद्ध है।

आपके भावात्मक निबंधों मे भी विचारों और भावों का वैसा ही सुन्दर रूप हमे मिलता है, जैसा कि विचारात्मक गम्भीर निबंधों मे। भाषा की सरलता और बोधगम्यता के लिए आपकी शैली विख्यात है।

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला'

निरालाजी के निबंधो के दो संग्रह 'प्रबन्ध-पद्म' और 'प्रबन्ध-प्रतिमा' नाम से प्रकाशित हुए है। आप कवि हैं ; इसलिए जो भी निबंध आपने लिखे हैं, उनमे हमे उस प्रतिभा के दर्शन नही होते, जिसके लिए आपकी कविता प्रसिद्ध है। इनके निबंधो मे सर्वत्र एक ही शैली का प्रयोग नहीं हुआ है और न लेखक का व्यक्तित्व ही अपनी प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा कर पाता है। पर, एक बात अवश्य कही जायगी, कि सभी निबंधों मे लेखक की प्रतिभा सर्वत्र प्रकट होती है। एक ही निबंध मे कहीं काव्य-पूर्ण और कहीं गम्भीर विवेचनात्मक शैली मिलती है। विचारों की अधिकता जिन वाक्यों मे है, वे भाव-प्रधान वाक्यों की अपेक्षा आपसे-

आप छोटे हो गये हैं। आपके बड़े वाक्यों मे संस्कृत की तत्समता अधिक है। आवश्यकता पड़ने पर आपने उर्दू शब्दो का भी प्रयोग किया है। और, लोकोक्ति और मुहाविरो का भी; पर अधिक नहीं। वाक्य-विकास में कुछ बंगला प्रभाव भी झलक पा जाता है। हास्य और व्यंग्य के सुमधुर छींटे ने भाषा की कृत्रिमता को ढक लिया है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

शांति-निकेतन के हिन्दी-अध्यापक पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इधर समालोचना और निबंध-जगत् में एक प्रसिद्ध स्थान प्राप्त कर लिया है और यदि आपका अध्ययन ऐसा ही जारी रहा, तो एक दिन आप समालोचना और निबंध दोनों क्षेत्रो में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति कर देंगे। 'सूर-साहित्य' और 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'उपन्यास-कहानी क्यो पढ़ी जाती है ?' आदि आपकी रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि आपका स्थान आज के सर्व-श्रेष्ठ विचार-प्रधान लेखकों मे होना चाहिए। आपकी भाषा मे, भावों मे और विचार प्रकट करने की शैली में ऐसा अनूठा मेल है कि पाठक का ध्यान विषय से इधर-उधर जा ही नहीं सकता। आपकी भाषा प्रधानतः संस्कृत-प्रधान है और उर्दू के आपने थोड़े ही अत्यन्त प्रचलित शब्दों को अपनाया है। संस्कृत-प्रधान होने पर भी भाषा व्यावहारिक और सरल तथा विषयो के अनुकूल ही बनी हुई है। मुहाविरों का प्रयोग आपने नहीं किया है। आपके गम्भीर अध्ययन और तार्किक विवेचन से आपकी शैली ओत-प्रोत है। इने-गिने अंगरेजी शब्दों के प्रयोग से आपकी शैली का प्रभाव बढ़ गया है। छोटे और बड़े दोनों प्रकार के वाक्यो का आपने प्रयोग किया है; जैसे—'भाषा कविता का वाहन है' और 'उपाय क्या है ?' तथा 'प्रति प्राकृत में प्राकृत सौन्दर्य' 'सीमाहीन में ससीम माधुर्य और अन्तहीन में सान्त भाव देखना ही इस कवि की साधना है।' पहले प्रकार के वाक्यों का प्रयोग वहीं हुआ है, जहाँ किसी भाव की पुष्टि करनी है और दूसरे प्रकार के वाक्य, विचार-विवेचन के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

---

[१]

साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है

प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है; वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य का मन जब शोक-संकुल, क्रोध से उद्दीप्त, या किसी प्रकार की चिंता से दोचित्ता रहता है, तब उसकी मुखच्छवि तमसाच्छन्न, उदासीन और मलिन रहती है; उस समय उसके कंठ से जो ध्वनि निकलती है, वह भी या तो फूटे ढोल के समान बेसुरी, बेताल, बेलय या करुणापूर्ण, गद्गद तथा विकृत स्वर-संयुक्त होती है। वही चित्त जब आनन्द की लहरी से उद्वेलित हो नृत्य करता है और सुख की परंपरा में मग्न रहता है, उस समय मुख विकसित कमल-सा प्रफुल्लित, नेत्र मानो हँसते-से, और अंग-अंग चुस्ती और चालाकी से फिरहरी की तरह फरका करते हैं, कंठ-ध्वनि भी तब वसंत-मदमत्त कोकिला के कंठरव से भी अधिक मीठी और सुहावनी मन भाती है। मनुष्य के संबध

में इस अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियम का अनुसरण प्रत्येक देश का साहित्य भी करता है; जिसमें कभी क्रोधपूर्ण भयंकर गर्जन, कभी प्रेम का उच्छ्वास, कभी शोक और परिताप जनित हृदय-विदारी करुणा-निस्वन, कभी वीरता-गर्व से बाहुबल के दर्प में भरा हुआ सिंहनाद, कभी भक्ति के उन्मेष से चित्त की द्रवता का परिणाम अश्रुपात आदि अनेक प्रकार के प्राकृतिक भावों का उद्गार देखा जाता है। इसलिये साहित्य यदि जन-समूह (Nation) के चित्त का चित्रपट कहा जाय, तो संगत है। किसी देश का इतिहास पढ़ने से हम उस देश का केवल बाहरी हाल जान सकते हैं; पर साहित्य के अनुशीलन से क़ौम के सब समय के आभ्यंतरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।

हमारे पुराने आर्यों का साहित्य वेद है। उस समय आर्यों की शैशवावस्था थी; बालकों के समान जिनका भाव, भोलापन, उदार भाव, निष्कपट व्यवहार वेद के साहित्य को एक विलक्षण तथा पवित्र माधुर्य प्रदान करते हैं। वेद जिन महापुरुषों के हृदय का विकास था, वे लोग मनु और याज्ञवल्क्य के समान समाज के आभ्यंतरिक भेद, वर्ण-विवेक आदि के झगड़ों में पड़ समाज की उन्नति या अवनति की तरह-तरह की चिंता में नहीं पड़े थे; कणाद या कपिल के समान अपने-अपने शास्त्र के मूल-भूत बीजसूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों के तत्त्व की छान-बीन में दिन-रात नहीं

डूबे रहते थे ; न कालिदास, न भवभूति, श्रीहर्ष आदि कवियों के सम्प्रदाय के अनुसार वे लोग कामिनी के विभ्रम-विलास और लावण्यलीला-लहरी में गोते मार-मार प्रमत्त हुए थे। प्रातःकाल उदयोन्मुख सूर्य की प्रतिमा देख उनके सीधे-सादे चित्त ने विना कुछ विशेष छानबीन किए उसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ लिया। उसके द्वारा वे अनेक प्रकार का लाभ देख कानन-स्थित विहंग-कूजन-समान कलकल-रव से प्रकृति की प्रभात-वन्दना का साम गाने लगे ; जल-भार-नत श्यामला मेघमाला का नवीन सौन्दर्य देख पुलकितगात्र हो कृतज्ञता-सूचक उपहार की भाँति स्तोत्र का पाठ करने लगे ; वायु जब प्रबल वेग से वहने लगी, तो वे उसे भी एक ईश्वरीय शक्ति समझ उसके शान्त करने को वायु की स्तुति करने लगे इत्यादि। वे ही सब ऋक् और साम की पावन ऋचाएँ हो गईं। उस समय अब के समान राजनीतिक अत्याचार कुछ न था, इसी से उनका साहित्य राजनीति की कुटिल उक्ति-युक्ति से मलिन नहीं हुआ था।

नये आये हुए आर्यों के नूतन ग्रथित समाज के संस्थापन में सब तरह की अपूर्णता थी सही, पर सबका निर्वाह अच्छी तरह होता जाता था ; किसी को किसी कारण से किसी प्रकार का अस्वास्थ्य न था ; आपस में एक दूसरे के साथ अब का-सा बनावटी कुटिल वर्ताव न था। इसलिये उस समय के उनके साहित्य वेद में भी कृत्रिम भक्ति, कृत्रिम

सौहार्द कपट-वृत्ति, बनावट और चुनाचुनी ने स्थान नहीं पाया। उन आर्यों का धर्म अब के समान गला घोंटनेवाला न था। सबके साथ सबकी सहानुभूति खान-पान द्वारा रहती थी। उनके बीच धार्मिक मनुष्य अब के धर्मध्वजियों के समान दांभिक बन महाव्याधि सदृश लोगों के लिए गलग्रह न थे। सिधाई, भोलापन और उदारभाव उनके साहित्य के एक-एक अक्षर से टपक रहा है। एक बार महात्मा ईसा एक सुकुमारमति बालक को अपनी गोद में बैठाकर अपने शिष्यों की ओर इशारा करके बोले कि जो कोई छोटे बालकों के समान भोला न बने, उसका स्वर्ग के राज्य में कुछ अधिकार नहीं है। हम भी कहते हैं, जो सुकुमार-चित्त वेदमार्गी इन आर्यों की तरह पद-पद में ईश्वर का भय रख, प्राकृतिक पदार्थों के सौन्दर्य पर मोहित होकर, बालकों के समान सरलमति न हो, उसका स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना अति दुष्कर है।'

जिसमें कि किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे, इसलिए स्मृतियों के साहित्य का जन्म हुआ। मनु, अत्रि, हारीत, याज्ञवल्क्य आदि ने अपने-अपने नाम की संहिता बना विविध प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और धर्म-सम्बन्धी विषयों का सूत्रपात किया। उन्ही के समकालीन गौतम, कणाद, कपिल, जैमिनि, पतंजलि आदि हुए, जिन्होंने अपने-अपने सोचने का परिणाम-रूप दर्शन-शास्त्रों की बुनियाद डाली। इन स्मृतियों और आर्यग्रन्थों की भाषा को हम वैदिक और आधुनिक संस्कृत के बीच की भाषा कह सकते है। अब से संस्कृत के दो खंड हो चले, जो वेद तथा लोक के नाम से कहे जाते है। पाणिनि के सूत्रों में, जो संस्कृतपाठियों के लिये कामधेनु का काम दे रहे हैं और जिनसे वैदिक और लौकिक सब प्रयोग सिद्ध होते हैं, लोक और वेद की निरख अच्छी तरह की गई है, और इसी वेद और लोक के अलग-अलग भेद से साबित होता है कि संस्कृत किसी समय प्रचलित भाषा थी, जो लोगो के बोलचाल के बर्ताव में लाई जाती थी।

वेद के उपरान्त रामायण और महाभारत साहित्य के बड़े-बड़े अंग समझे गये। रामायण के समय भारतीय सभ्यता का प्रेमोच्छ्वास-परिप्लावित नूतन यौवन था; किंतु महाभारत के समय भारतीय सभ्यता क्षति-ग्रस्त हो वार्द्धक्य भाव को पहुँच गई थी। रामायण के प्रधान पुरुष रघुकुल-

वतंस श्रीरामचंद्र थे; और महाभारत के प्रधान पुरुष, बुद्धि की तीक्ष्णता के रूप, कूट-युद्ध-विशारद, भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण या उनके हाथ की कठपुतली युधिष्ठिर थे। रामायण के समय से भारत के समय में लोगों के हृद्गत भावों में कितना अन्तर हो गया था कि रामायण में दो प्रतिद्वंद्वी भाई इस बात के लिए विवाद कर रहे थे कि यह समस्त राज्य और राज्य-सिंहासन हमारा नहीं है, यह सब तुम्हारे ही हाथ में रहे। अन्त में रामचंद्र भरत को विवाद में पराभूत कर समस्त साम्राज्य उनके हस्तगत कर आप आनंद-निर्भर-चित्त हो सस्त्रीक वनवासी हुए। वहो महाभारत में दो दायाद भाई इस बात के लिए कलह करने पर सन्नद्ध हुए कि जितने में सुई का अग्रभाग ढँक जाय, इतनी पृथ्वी भी विना युद्ध के हम न देंगे—"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव"। परिणाम मे एक भाई दूसरे पर जय लाभ कर तथा जंघा में गदाघात और मस्तक पर पदाघात से उसे वध कर भाई के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हो सुख में फूल अनेक तरह के यज्ञ और दान में प्रवृत्त हुआ। रामायण और महा-भारत के आचार्य क्रम से कवि-कुल-गुरु वाल्मीकि और व्यास थे। पृथ्वी के और-और देशों में इनके समान या इनसे बढ़कर कवि नहीं हुए, ऐसा नहीं है। यूनान देश में होमर, रोम देश में वर्जिल, इटली में डैंटी, इँगलैण्ड में चॉसर और मिल्टन अपनी-अपनी असाधारण प्रतिभा से मनुष्य-जाति का

गौरव बढ़ाने में कुछ कम न थे। परन्तु विचित्र कल्पना और प्रकृति के यथार्थ अनुकरण में निरन्तर वृद्ध वाल्मीकि के समान होमर तथा मिल्टन किसी अंश में नहीं बढ़ने पाये, जिनकी कविता के प्रधान नायक श्रीरामचंद्र आर्य-जाति के प्राण, दया के अमृत-सागर, गांभीर्य और पौरुष-दर्प की मानो सजीव प्रतिकृति थे। वे प्रीति और समभाव से महा नीच जाति चाण्डाल तक को गले से लगाते थे। उन्होंने लंकेश्वर-से प्रबल प्रतिद्वंन्द्वी शत्रु को भी कभी तृण के बराबर भी नहीं समझा। स्वर्णमण्डित सिंहासन और तपोवन में पर्णकुटी, उन्हे एक-सी सुखकारी हुई। उनके स्मित-पूर्वाभि-भाषित्व और उनकी बोलचाल की मुग्ध माधुरी पर मोहित हो दण्डकारण्य की असभ्य जाति ने भी अपने को उनका दास माना। अहा! धन्य श्रीरामचन्द्र का अलौकिक माहात्म्य, धन्य वाल्मीकि की कल्पना-सरसी, जिसमें ऐसे-ऐसे स्वर्ण-कमल प्रस्फुटित हुए।

काल के परिवर्तन की कैसी महिमा है, जो अपने साथ-ही-साथ मानुषी प्रकृति के परिवर्तन पर भी बहुत कुछ असर पैदा कर देता है। वाल्मीकि ने जिन बातों को अवगुण समझ अपनी कल्पना के प्रधान नायक रामचंद्र में बरकाया था, वे ही सब व्यास के समय में गुण हो गई, जिनकी कविता का मुख्य लक्ष्य यही था कि अपना मान, अपना गौरव, अपना प्रभुत्व जहाँ तक हो सके, न जाने पावे। भारत के हर एक

प्रसंग का तोड़ अन्त में इसी बात पर है। शत्रु-संहार और निज कार्य-साधन-निमित्त व्यास ने महाभारत में जो-जो उपदेश दिये हैं, और राजनीति की काट-छाँट जैसी-जैसी दिखाई है, उसे सुन बिस्मार्क-सरीखे इस समय के राजनीति के मर्म में कुशल राजपुरुषों की अक़्ल भी चरने चली जाती होगी। इससे निश्चय होता है कि प्रभुत्व और स्वार्थ-साधन तथा प्रवंचना-परवश भारतवर्ष उस समय कहाँ तक उदार-भाव, समवेदना आदि उत्तम गुणों से विमुख हो गया था। युधिष्ठिर धर्म के अवतार और सत्यवादी प्रसिद्ध हैं; पर उनकी सत्यवादिता निज कार्य-साधन के समय सब खुल गई। "अश्वत्थामा हतः नरो वा कुञ्जरो वा" इत्यादि कितने उदाहरण इस बात के हैं; किंतु इन्हें विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखते।

महाभारत के उपरान्त भारत और-का-और ही हो गया। उसकी दशा के परिवर्तन के साथ-ही-साथ उसके साहित्य में भी बड़ा परिवर्तन हो गया। उपरांत बौद्धों का जोर हुआ। ये सब वेद और ब्राह्मणों के बड़े विरोधी थे। वेद की भाषा संस्कृत थी। इसलिये उन्होंने संस्कृत को बिगाड़ प्राकृत भाषा जारी की। तब से संस्कृत सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा न रही। फिर भी संस्कृतभाषी उस समय बहुत-से लोग थे, जिन्होंने इस नई भाषा को प्राकृत नाम दिया, जिसके अर्थ ही यह हैं कि प्राकृत अर्थात् नीचों की भाषा। अतएव

संस्कृत-नाटकों में नीच पात्र की भाषा प्राकृत और उत्तम पात्र ब्राह्मण या राजा आदि की भाषा संस्कृत रक्खी गई है। कुछ काल उपरान्त यह भाषा भी बहुत उन्नति को पहुँची। शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्धमागधी, पैशाची आदि इसके अनेक भेद हैं। इसमें भी बहुतसे साहित्य के ग्रंथ बने। गुणाढ्य कवि का आर्याबद्ध लक्ष श्लोक का ग्रथ बृहत्कथा प्राकृत ही में है। सिवा इसके शालिवाहन-सप्तशती आदि कई एक उत्तम प्राकृत के ग्रंथ और भी मिलते है। नंद और चंद्रगुप्त के समय इस भाषा की बड़ी उन्नति की गई। जैनियो के सब ग्रंथ प्राकृत ही मे है; उनके स्तोत्र-पाठ आदि भी सब इसी मे है। इससे मालूम होता है कि प्राकृत किसी समय वेद की भाषा के समान पवित्र समझी गई थी।

संस्कृत यद्यपि बोलचाल की भाषा इस समय न रह गई थी, पर हरएक विषय के ग्रंथ इसमें एक-से-एक बढ़-चढ़कर बनते गये। और, साहित्य की तो यहाँ तक तरक्की हुई कि कालिदास आदि कवियो की उक्ति-युक्ति के मुक़ाबले वेद का भद्दा और रूखा साहित्य अत्यंत फीका मालूम होने लगा। कालिदास की एक-एक उपमा पर और भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष, बाण की एक-एक छटा पर वेद के उम्दा-से-उम्दा सूक्त, जिनमें हमारे पुराने आर्यों ने भरपच साहित्य को बड़ी भारी करीगरी दिखलाई है, न्यौछावर है। संस्कृत के साहित्य के लिये विक्रमादित्य का समय "अगस्टन पीरियड" कहलाता

है, अर्थात् उस समय संस्कृत, जहाँ तक उसके लिये परिष्कृत होना सम्भव था, अपनी पूर्ण सीमा तक पहुँच गई थी। यद्यपि भारवि, माघ, मयूर प्रभृति कई एक उत्तम कवि धाराधिपति भोजराज के समय तक और उनके उपरांत भी जगन्नाथ पण्डितराज तक बराबर होते ही गये; किंतु संस्कृत के परिष्कृत होने की सामग्री उस समय तक पूरी हो चुकी थी। भोज का समय तो यहाँ तक कविता की उन्नति का था कि एक-एक श्लोक के लिये असंख्य इनाम राजा भोज कवियों को देते थे। वेद का साहित्य उस समय यहाँ तक दब गया था कि छांदस मूर्ख की एक पदवी रक्खी गई थी। केवल पाठ-मात्र वेद जाननेवाले छांदस कहलाते थे, और वे अब तक भी निरे मूर्ख होते आये हैं।

बौद्धों के उच्छेद के उपरांत एक ज़माना पुराण के साहित्य का भी हिंदुस्तान में हुआ। उस समय बहुत से पुराण, उपपुराण और संहिताएँ दो-चार सौ वर्ष के हेर फेर में रची गईं। अब हम लोगों में जो धर्म-शिक्षा, समाज-शिक्षा और रीति-नीति प्रचलित है, वह सब शुद्ध वैदिक एक भी नहीं है। थोड़े से ऐसे लोग हैं, जो अपने को स्मार्त मानते हैं। अब तो अलबत्ता अधिकांश वेदोक्त कर्म का यत्किञ्चित् प्रचार पाया जाता है, सो भी केवल नाम-मात्र को; पुराण उसमें भी बीच-बीच में आ घुसा है। हमारी विद्यमान छिन्न-भिन्न दशा, जिसके कारण हज़ार-हजार चेष्टा करने पर भी जाति-

यता हमारे में आती ही नहीं, सब पुराण ही की कृपा है। जब तक शुद्ध वैदिक साहित्य हम लोगों में प्रचलित था, तब तक जातीयता के दृढ़ नियमों में ज़रा भी अन्तर नहीं होने पाया था। पुराणों के साहित्य के प्रचार से एक बड़ा लाभ भी हुआ कि वेद के समय की बहुत-सी घिनौनी रीतियों और रस्मों को, जिनके नाम लेने से भी हम घिना उठते हैं, और उन सब महाघोर हिंसाओं को, जिनके सबब से अपने अहिंसा-धर्म के प्रचार करने में बौद्धों को सुविधा हुई थी, पुराणकर्ताओं ने उठाकर शुद्ध सात्त्विको धर्म को विशेष स्थापित किया। अनेक मत-मतांतरों का प्रचार भी पुराणों की ही करतूत है। पुराणवाले तो पंचायतन-पूजन ही तक से संतोष करके रह गये। तंत्रो ने बड़ा संहार किया। उन्होंने अनेक क्षुद्र देवता—भैरव, काली, डाकिनी. शाकिनी, भूत, प्रेत तक की पूजा को फैला दिया। मद्य-मांस के प्रचार को, जिसे बौद्धों ने तमोगुणी और मलिन समझ उठा दिया था, तांत्रिकों ने फिर बहाल किया। पर बल-वीर्य की पुष्टता से, जो मांसाहार का प्रधान लाभ था, ये लोग फिर भी वंचित रहे। निःसंदेह तांत्रिकों की कृपा न होती, तो हिन्दुस्तान इतना जल्द न डूबता। वेद का अधिकारी शुद्ध ब्राह्मण तांत्रिक दीक्षा या तंत्र-मंत्र के पठन-पाठन से बहुत जल्द पतित हो सकता है, यह जो किसी स्मृतिकार का मत है, हमें भी कुछ-कुछ सयुक्तिक मालूम होता है। बहुत से पुराण तन्त्रो के

वाद बने। उनमें भी तांत्रिकों का सिद्धांत पुष्ट किया गया।

हम ऊपर लिख आये हैं कि हिंदू-जाति में क़ौमियत के छिन्न होने का सूत्रपात पुराणों के द्वारा हुआ और तन्त्रों ने उसे बहुत पुष्ट किया। शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध इत्यादि अनेक जुदे-जुदे फ़िरके हो गये, जिनमें इतना दृढ़ विरोध क़ायम हुआ कि एक दूसरे के मुँह देखने के रवादार न हुए, तब परस्पर की सहानुभूति कहाँ रही! जब समस्त हिंदू-जाति का एक वैदिक संप्रदाय न रहा, तो वही मसल चरितार्थ हुई कि "एक नारि जब दो से फँसी, जैसे सत्तर वैसे अस्सी"। हमारी एक हिंदू-जाति के असंख्य टुकड़े होते-होते यहाँ तक खंड हुए कि अब तक नए-नए धर्म और मत-प्रवर्तक होते ही जाते है। ये टुकड़े जितने वैष्णवों में अधिक हैं, उतने शैव-शाक्तो में नहीं और आपस में एक का दूसरे के साथ मेल और खान-पान जितना कम इनमें है, उतना और में नहीं। राम के उपासक कृष्ण के उपासक से लड़ते हैं, कृष्ण के उपासक रामोपासकों से इत्तिफ़ाक़ नहीं रखते। कृष्णोपासकों में भी सत्यानासिन अनन्यता ऐसी आड़े आई है कि यह इनके आपस ही में बड़ी खटपट लगाये रहती है।

प्राकृत के उपरान्त हमारे देश के साहित्य के दो नमूने और मिलते हैं, एक पद्मावत और दूसरा पृथ्वीराज-रायसो। पद्मावत की कविता में तो किसी क़दर कुछ थोड़ा-सा रस है भी; पर पृथ्वीराज-रायसो में तारीफ़ के लायक कौन-सी

बात है—यह हमारी समझ में बिल्कुल नहीं आता। प्राकृत के उतरते-उतरते हमारी विद्यमान हिंदी इस शकल में कैसे आई ; इस बात का पता अलबत्ता रायसो से लगता है।

मत-मतांतर के साथ-ही-साथ हमारी भाषा भी गुजराती, मराठी, बंगाली इत्यादि के भेद से प्रत्येक प्रांत की जुदी-जुदी भाषा हो गई। इन एक देशी भाषाओं में बंगाली सबसे अधिक कोमल, मधुर और सरस है, मराठी महाकठोर और कर्ण-कटु, तथा पंजाबी निहायत भद्दी, कठोर और रूखेपन में उर्दू की छोटी बहन है।

अब अपनी हिंदी की ओर आइए। इसमें संदेह नहीं, विस्तार मे हिंदी अपनी बहनों मे सबसे बड़ी है। व्रजभाषा, बुन्देलखंडी बैसवारे की तथा भोजपुरी इत्यादि इसके कई एक अवान्तर भेद है। व्रजभाषा में यद्यपि कुछ मिठास है, पर यह इतनी ज़नानी बोली है कि इसमें सिवा शृङ्गार के दूसरा रस आ ही नहीं सकता। जिस बोली को कवियो ने अपने लिए चुन रखा है, वह बुंदेलखंड की बोली है। इसमें सब प्रकार के काव्य और सब रस समा सकते है। अपनी-अपनी पसंद निराली होती है—"भिन्नरुचिर्हि लोकः"। हमें बैसवारे की मर्दानी बोली सबसे अधिक भली मालूम होती है। दूसरी भाषाएँ जैसे मराठी, गुजराती, बँगला की अपेक्षा कविता के अंश में हिंदी का साहित्य बहुत चढ़ा हुआ है तथा संस्कृत से कुछ ही न्यून है। किंतु गद्य-रचना "प्रोज़" हिंदी

का बहुत ही कम और पोच है। सिवा एक प्रेमसागर-सी दरिद्र रचना के इसमें और कुछ है ही नहीं, जिसे हम इसके साहित्य के भाण्डार में शामिल करते। दूसरे उर्दू इसको ऐसी रेड़ मारे हुए है कि शुद्ध हिंदी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं। प्रसंग-प्राप्त अब हमें यहाँ उर्दू के साहित्य-समालोचना का भी अवसर प्राप्त हुआ है; किंतु यह विषय अत्यंत ऊब पैदा करनेवाला हो गया है; इससे इसे यहीं पर समाप्त करते हैं। उर्दू की समालोचना फिर कभी करेंगे।

---

[२]

मज़दूरी और प्रेम

हल चलानेवाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सफेद दानों के रूप में निकलती है। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग़ के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नज़र आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुत हुआ-सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्म के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल मे बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या, यह नहीं पढ़ा ; जप और तप यह नहीं करता ; संध्या-वंदनादि

इसे नहीं आते; ज्ञान-ध्यान का इसे पता नहीं; मसजिद, गिरजे, मंदिर से इसे सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंडे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौवों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात विधाता इसके हृदय में अचिंतनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृद्धि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है; गाय इसकी दूध देती है; स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है; मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है; पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की, अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना, क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है

अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई"। भोलेभाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चन्द्रमा छन-छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लंबी लाठी हाथ में लिये हुए गौवों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का हमराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठानेवाला, भूखों और नंगो का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिये का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिये को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किये हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सफेद हैं। और, क्यों न सफेद हों? सफेद भेड़ों

का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीर-सागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़-कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है; घर इनका बेघर है: ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी घर में न घर कर बैठना इस दरे फ़ानी में।
ठिकाना बेठिकाना और मकाँ बर ला-मकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की

सुगन्धि से सुगन्धित है। इनके मुख, शरीर और अन्तःकरण सफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मै देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उनके पास बैठे काट देते है। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सबकी आँखें शून्य आकाश मे किसी को देखते-देखते लग गईं। पता नही ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नही। पर, हाँ. इन सबकी आँखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्प-रहित मौन प्रार्थना में खुली है। दो रातें इसी तरह गुजर गई। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आए और झम-झम बरसने लगे। मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनन्दित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनन्द-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नही. पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता; रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरम्भ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होने धूम मचा दी। मेरी आँखो के सामने

ब्रह्मानन्द का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—'भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।' ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जायँ तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरी झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पंडितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिये के परिवार की प्रेम-मज़दूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

मज़दूर की मज़दूरी

आपने चार आने पैसे मज़दूर के हाथ में रख कर कहा—'यह लो दिन भर की अपनी मज़दूरी।' वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँख इत्यादि सब-के-सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीज़ें उसकी तो थीं ही नहीं वे तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये वे भी

आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मज़दूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिये एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया मेरे हाथ जिल्द-साज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंतःकरण में रोज भरतमिलाप का-सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है; साथ-ही-साथ वह अपने दुःख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी; तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है. सुई हाथ में लिए हुए है। कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गये हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरांत—"हे राम"—कहकर उसने फिर सीना शुरू

कर दिया। इस माता और वहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की वाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, संध्या और नमाज़ से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसा ही मूक प्रार्थनायें सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से वने हुए कामों में उनकी प्रेम-मय पवित्र आत्मा की सुगंधि आती है। "राफल" आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख, इतनी सदियों के वाद भी उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किंतु, साथ ही, उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते है। परंतु यंत्रों की सहायता से वने हुए फोटो निर्जीव-से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि वस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज़ में जो रस भर जाता है, वह भला लोहे के द्वारा वनाई हुई चीज में कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं वोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ जिसके इर्द-गिर्द की

घास-पात खोदकर मैं साफ़ करता हूँ, उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किये हुए अचार-मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिंदा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परंतु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठा-कर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिये शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्गद रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सफेद किरणों से अँधेरी रात पर सफेदी-सी-छिटकी, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीस कर सफेद आटा बना लिया। इस सफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर; एक हाथ

में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा ; दूसरे हाथ में मक्खन की हाँडी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनंदमयी प्रातःकालीन शोभा सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिये रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनंददायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रक्खा है। मेरा यही योग है।

मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परंतु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता है। सच्चा आनंद तो मुझे मेरे काम से

मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे मे क्या रक्खा है? ईंट, पत्थर, चूना, कुछ ही कहो; आज से हम अपने ईश्वर को तलाश मंदिर, मसजिद, गिरजा और पोथी मे न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियो, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिंतन, अंत में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके है। यही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट, पत्थर को मूर्तिमान् करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम-से-उत्तम और नीच-से-नीच काम, सब के सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गये हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति-मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होनेवाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिये। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेजबान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायु-यान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावंतों के लिये वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातनेवाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरी की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नये कवि पैदा होंगे, तभी नये औलियों का

उद्भव होगा। परंतु ये सब-के-सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर-ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी

मज़दूरी और फकीरी का महत्त्व थोड़ा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिये परमावश्यक हैं। बिना मजदूरी किये फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फ़कीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर, बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं; परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है; घास नई, पेड़ नये, पत्ते नये—मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलों की सुगंध लो, ठंडी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल-पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अंतःकरण को तरोताजा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किये शुद्ध विचार का दावा करना, मानों सोते-सोते

खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी पंडित और साधु-संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं; तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनंत काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे। परंतु इस सालवाले ताजे हैं। इनकी लाली नई है, इनकी सुगंध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते; वे सदा एक ही-से रहते हैं। परंतु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है।

सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रंग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेमधर्म का तत्त्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेमधर्म का राज्य होता है, उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है ; क्योंकि पूछनेवाले का कुल और उसकी जात् वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहन हैं। अपने ही भाई-बहनों के माता-पिता का नाम पूछना पागलपन से क्या कम समझा जा सकता है ? यह सारा संसार एक कुटुम्बवत् है। लँगड़े, लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं जिसकी छत के नीचे बलवान्, नीरोग और रूपवान् कुटुम्बी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान्, सबल और नीरोग ही तो करेंगे। आनंद और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है ; क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिये जो उपदेश दिये जाते हैं, उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है परंतु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना तो है और सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्यमंडल

के साथ आकाश मे एक सीधी लकीर पर चलना है। अंत में इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विधि कामनायें उसके जीवन को मानो उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परंतु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं; वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्यमंडल के साथ की चाल है और अंततः यह चाल जीवन का परमार्थ-रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामना-पूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिये मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय-संबंध है।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन आव् आर्क (Joan of Arc) की फकीरी और भेड़ें चराना टालसटाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तंबू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंगमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते-करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस

बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर दूर से साधु आये हुए थे। गुरु नानक का आगमन सुन-कर भागो ने उन्हें भी निमंत्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा कि आप मेरे यहाँ का अन्न क्यो नही ग्रहण करते ? गुरुदेव ने उत्तर दिया—भागो ! अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दे। वह हलवा-पूरी लाया तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ मे लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ ! जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मजदूरो की उँगलियो से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है, संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते है। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत

का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज़, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपये के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्व-ज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, संभव है हम जगत् को जीत लें (We shall beat the world with the tips of our fingers)। जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी उन्नत नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आ गिरे।

अन्न पैदा करना तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य-चिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य की वृद्धि करते हैं। कविता, फकीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते-जागते और हिलते

ढुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य-जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते जहाँ मजदूर और मजदूर की मजदूरी का सत्कार नहीं होता, जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करनेवालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी सुंदरता का अनुभव करानेवाले कला-कौशल, अर्थात् कारीगरी, का रूप हो जाता है। इस देश में जब मजदूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शांति प्राप्त होती है जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरी है; परंतु मन के गुप्त भावों और अंतःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मजदूरी है। शिवजी के तांडव-नृत्य को और पार्वतीजी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोमनाथ के मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेम-मजदूरी अर्थात् वहाँवालों के हाथ की अद्वितीय कारीगरी प्रकट

करनेवाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं—वे जीती-जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानो में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिये जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करनेवाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियाँ कैसे सुंदर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा किंवा कृष्ण और शालग्राम की पूजा होना असंभव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता में पीड़ित हैं।

५

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शानेवाले देवता रस्किन और टाल्स-टाय आदि हैं, पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होनेवाला है। वहाँ के गंभीर विचारवाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के

लिये उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेनेवाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नये प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और, हो क्यों न ? इंजनों के पहियों के नीचे दबकर वहाँवालों के भाई-बहन—नहीं-नहीं, उनकी सारी जाति—पिस गई, उनके जीवन के धुरे टूट गये, उनका समस्त धन घरों से निकलकर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं; मजदूरों के हाथ-पाँव फट रहे हैं, लहू चल रहा है! सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखंड राज्य है, दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परंतु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिये—मजदूरों को सुख देने के लिये—परंतु वे काली-काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिये मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली-काली बलाएँ दूर होंगी। मनुष्यों के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।'

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों में लोगों को मजदूर से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का आलिंगन करने की। पश्चिम-वालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही हैं। वे छोड़ना चाहते हैं, परंतु काली कमली उन्हें नहीं छोड़ती। देखेंगे, पूर्ववाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनंद अनुभव करते हैं। यदि हममें से हर आदमी

अपनी दस उँगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करें तो हमीं मशीनों की कृपा से बढ़े हुए परिश्रम-वालों को, वाणिज्य के जातीय-संग्राम में, सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर, आओ, पश्चिम में आनेवाली सभ्यता के नये प्रभात को हम पूर्व से भेजें।

इंजनों की वह मजदूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों ही को भूखा-नंगा रखती है, और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य-जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के आनंद-मंगल का एक साधारण-सा और महातुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है; ईश्वर को भूल जाना है; अपने भाई-बहनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देनेवालों को मारकर अपने सुख के लिये शारीरिक राज्य की इच्छा करना है; जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़े से काटना है। अपने प्रियजनों से रहित राज्य किस

काम का ? प्यारी मनुष्य-जाति का सुख ही जगत् के मंगल का मूल साधन है। विना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रता-पूर्ण नेत्रों से निकल-कर बहती है तब वही जगत् में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें। मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

है रीत आशिकों की तन मन निसार करना।
रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

---

[३]

करुणा

जब बच्चे को कार्य-कारण-संबंध कुछ-कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना-क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण-संबंध से अभ्यस्त होने पर दूसरे के दुःख के कारण वा कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठमूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई-कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं।* इसी प्रकार जब उनके किसी भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।†

दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की

* कार्य। † कारण।

भलाई की उत्तेजना दुःख और आनंद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियो वा वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा, पर भीतर से जो जवाहरात निकाले उनको खूब सँभालकर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

कभी-कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हें गुण कहते हैं, तीव्र होकर मनो-वेगो का रूप धारण कर लेती हैं पर वे मनोवेगों में नहीं गिनी जातीं।

(ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्यों ही समाज में प्रवेश करता है. उसके दुःख और सुख का बहुत-सा अंश दूसरों की क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनो-विकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरो के दुःख से दुखी और दूसरो के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि क्या दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है

उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दुःख को देखकर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिए बंद नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है। यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध वा अत्याचार किया है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध वा अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनंदित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद् या संबंधी हो अथवा अत्यंत सज्जन, शीलवान् वा चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र वा हितू हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ वा कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनंद का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनंद होता है उसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है

और न उसमें वेग या क्रियोत्पादक गुण है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा विशेष संसर्ग है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली-भाली सुंदरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बंधु को दुःख में देख हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की यह सापेक्ष तीव्रता जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से इस प्रकार परिमित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि-संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता वा दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उनके संबंध वा संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता वा दुर्जनता की कोटि में न आयेगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्यों को एक

साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण वा बचाव हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अंतःकरण-वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो तो वह सात्त्विक है। कृपा वा प्रसन्नता से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है। पर एक तो कृपा वा प्रसन्नता में आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दु.ख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान वा अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत ही का भाव समझा जाता है जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं।' दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम

न पालने का दोषी हो सकता है पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नही जिससे किसी का कोई काम बिगड़े वा जी दुखे। यदि वह कभी बड़ो की कोई बात न मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नही जँचती या वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिए नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' आदि नियम के अंतर्गत हैं, शील वा सद्भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत-सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी-किसी अवस्था में तो धर्मग्रंथो में झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गई है, विशेषतः जब इस नियमभंग द्वारा अंतःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दंड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है, क्योंकि नियम शील वा सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार केवल दंभ है। मनुष्य के अंतःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध-धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—

> पर-हित सरिस धर्म नहि भाई।
> पर-पीडा सम नहि अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्त्विकशीलता ही है। अतः करुणा और सात्त्विकता का संबंध इस बात से और भी प्रमाणित होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। क़िसी को क्रोध, भय, ईर्षा, घृणा, आनंद आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। यह दिखलाया ही जा चुका है कि प्राणियों की आदि-अंतःकरण-वृत्ति रागात्मक है। अतः मनोवेग में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदि संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य का आचरण मनोवेग वा प्रवृत्ति ही का फल है। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग-अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मनोवेग पर निर्भर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि हमारे निश्चयों का अंतिम आधार अनुभव वा कल्पना की तीव्रता ही है, बुद्धि द्वारा स्थिर की हुई कोई वस्तु नहीं। गीली लकड़ी को आग पर रखने से हमने एक बार धुआँ उठते देखा, दस बार देखा, हजार बार देखा,

अतः हमारी कल्पना में यह व्यापार जम गया और हमने निश्चय किया कि गीली लकडी आग पर रखने से धुआँ होता है। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अंतःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषय मात्र ढूँढ़ती है। मनुष्य की प्रवृत्ति पर कल्पना को और मनोवेगों को व्यवस्थित और तीव्र करनेवाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है वह भी करुणा कहलाता है क्योंकि उसमें दया वा करुणा का अंश भी मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग मे इस विषय की संप्राप्ति किस प्रकार होती है यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है। अस्तु, प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमें साधारण जनो के उपस्थित दुःख से होती है वही करुणा हमें प्रियजनो के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारण जनो का तो हमे दुःख असह्य होता है पर प्रियजनों के सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चित बात पर सुखी वा दुखी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है, इसी से इस प्रकार के दुःख वा करुणा को किसी-किसी

प्रांतिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती हैं—

वन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै हैं, राम लखन दोउ भाई॥

—गीत

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था पर यशोदा इसी सोच में मरती रही कि—

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन-छिन आगो लैहै ?

और उद्धव से कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती क्रम-क्रम करिके न्हाते॥

तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै॥
अब यह 'सूर' मोहि निसि वासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलकलड़ैतै लालन ह्वै हैं करत सँकोच॥

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियो को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशका तक होती है। जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री संदेह करती है—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥

प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश होता है उसे तो मैंने दिखलाया किंतु ऐसे दुःख का प्रधान अंग आत्मपक्ष-संबंधी एक और ही प्रकार का दुःख होता है जिसे शोक कहते हैं। जिस व्यक्ति से किसी को घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारो तथा मनो-वृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत-सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग वा व्यवहार है। अतः ऐसे लोगो में से किसी का दूर होना उसके लिए उसके संसार के एक अंश का उठ जाना वा जीवन के एक अंग का निकल जाना है। किसी प्रिय

वा सुहृद् के चिरवियोग वा मृत्यु के शोक के साथ करुणा वा दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय वा कुव्यवहार, तथा उसकी इच्छा-पूर्ति के संबंध में अपनी त्रुटियों को स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्मक्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि संसार मे एक दूसरे की सहायता, विवेचना द्वारा निश्चित. इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन की प्रवृत्तिकारिणी प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी संभावना है; इस बात वा उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी

चंचल और मुंडे-मुंडे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती। किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज-रक्षा के लिए एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज-शास्त्र के बहुत-से वक्ता ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखो की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वही तक होता, जहाँ तक ये समाज-शास्त्र के वक्ता बतलाते हैं, तो हमारी दया मोटे, मुसंडे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहज लोगों पर नही, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं; पर इसका बिलकुल उलटा देखने में आता है। दुखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा, उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी, उतनी एक सिपाही वा पहलवान को पिटते देख नही। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं, उनका धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा-सा अंतःकरण नही, विश्वात्मा है।

दूसरों के, विशेषतः अपने परिचितों के क्लेश वा करुणा पर जो वेगरहित दुःख होता है, उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में अब इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा-सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है।

सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म शिष्टता मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र में घुस-कर सच्चाई को चरती चली जा रही है।

करुणा अपना बीज लक्ष्य में नहीं फेंकती; अर्थात्—जिस पर करुणा की जाती है, वह बदले में करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा व प्रीति करता है। बहुत-सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखलाई गई है कि युव-तियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। उद्वेगशील बँगला-उपन्यास-लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यंत संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है, उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान वा उपलब्ध ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ, अपना देश और काल-संबंधी विस्तार बढ़ाता है। उपस्थित विषय के संबंध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी-कभी आवश्यक होता है। मनोवेगों की उपयुक्तता कभी-कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के

विलाप पर हमें दया आती है; पर जब सुनते हैं कि कई स्थानों पर कई बार वह बड़े-बड़े अपराध कर चुका है, इससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा, तब हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि केवल मनोवेगों के सहायक हैं; अर्थात्—प्रकारांतर से वे मनोवेगों के लिए विषय उपस्थित करते हैं। ये कभी तो आप-से-आप विषयों को मन के सामने लाते हैं; कभी किसी विषय के सामने आने पर ये उससे संबंध (पूर्वापर वा कार्यकारण-संबंध) रखनेवाले और बहुत-से विषय उपस्थित करते हैं, जो कभी तो सब-के-सब एक ही मनोवेग के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को तीव्र करते हैं, कभी भिन्न-भिन्न मनोवेगों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को परिवर्तित वा धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग वा प्रवृत्ति को मंद करनेवाली स्मृति, अनुमान वा बुद्धि आदि कोई दूसरी अंतःकरण-वृत्ति नहीं है, मन की रागात्मिका क्रिया वा अवस्था ही है।

मनुष्य की सजीवता, मनोवेग वा प्रवृत्ति ही में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है, जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते; बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त

संबंध-निर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हो, तो स्मृति, अनुमान बुद्धि आदि के रहते हुए भी मनुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनंदित होने के लिए अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा होती है; पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलनेपर विवश और कठपुतली-सा जड़ होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बना-बनाकर, कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, आनंद छोड़ो। बस हाथ पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात; पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी

घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले, तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी ; पर जब बार-बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा, तब धीरे-धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत-से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं, जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता ; पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेग के अनुसारी परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य करने में अशक्त हो गया है। जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया हो आती है ; पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है ; पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे, उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। अब नियम को लीजिए। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पाएँ, तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा, वह किसी ऐसे अकिंचन को देख, जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा ; पर नियम के वशीभूत हो, उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा

हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर, यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी दुखिया स्त्री होती, तो राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता; करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है, अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है; इससे राजा हरिश्चन्द्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था, उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से उपयुक्त प्रतीकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १०००) उधार लिये, तो न्याय यह है कि वह १०००) लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया, तो न्याय यह है कि उसको दण्ड मिले। यदि १०००) लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई, तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता-गिड़गिड़ाता है और कान पकड़ता है और पूर्ण दण्ड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है, तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा

अधिकार विपक्षी; अर्थात्—जिसका रुपया चाहिए वा जिसका अपराध किया गया है उसको है; न्यायकर्ता वा तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किये, वा अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा-ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेंत का सौदा नही है। यदि न्यायकर्ता को करुणा है, तो वह उसकी शान्ति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलों मे वह चाहे, तो दुखिया ऋणी को हजार-पाँच सौ अपने पास से दे दे, वा दण्डित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

---

[४]

उपन्यास

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है; लेकिन यह कायदा है कि जो चीज़ जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं, उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है, जिस पर सभी लोग सह-मत हों।

मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल-तत्त्व है।

किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आद-मियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं; पर इतनी समानता पर भी, जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति, सब आदमियों के चरित्रों में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता,—अभिन्नत्व में

भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व, दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।

सन्तान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो; लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ हैं,—उसके भेद हैं। कोई तो सन्तान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है; लेकिन, धर्म-भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता; उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश-मात्र भी विचार नहीं करता,—जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े,—वह सन्तान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है, जहाँ सन्तान का चरित्र प्रधान कारण होता है,—जब कि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है,—उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानव-गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म,—जितना ही विस्तृत होगा, उतनी सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे।

सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है, जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी सन्तान-प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने में आता है, जहाँ शराबी जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए,—उसमें अपनी तरफ से काट-छाँट कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए ?

यहीं से उपन्यासकारों के दो गरोह हो गये हैं। एक आदर्शवादी दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है, या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा,—उसके चरित्र अपनी कमज़ोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता; बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है—नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं,

अपमानित होते हैं,—उनको नेकी का फल उलटा मिलता है ; बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं,—उनको बदी का फल उलटा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है !) यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है,—यहाँ तक कि उज्ज्वल-से-उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ-न-कुछ दाग-धब्बे रहते है ; इसलिए, यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओ, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई-ही-बुराई नज़र आने लगती है।

इसमें सन्देह नही कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है , क्योंकि, इसके बिना, बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कही काला दिखाए, जितना वह वास्तव में है। लेकिन, जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव-स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नही कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार

में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले,—वह भूल जाय कि मैं चिंताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों ; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में खयाल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबक़ा है, जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर, ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों ?

अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तो इच्छा होती है कि किसी बाग़ में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ। इसी कमी को आदर्श-वाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है ; लेकिन, काइयेंपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है ; लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शङ्का है, कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें, जो सिद्धान्तों की

मूर्तिमात्र हो,—जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है; लेकिन, उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

इसलिए, वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जिनमें यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को जीवन बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह निर्दोष हो,—महान्-से-महान् पुरुषों में भी कुछ-न-कुछ कमज़ोरियाँ होती हैं,—चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमज़ोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि, यही कमज़ोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्शों की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना

नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हम में सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम-से-कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए ज़रूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, वल्कि, उनको परास्त करें; जो वासनाओं के पंजे में न फँसें, वल्कि, उनका दमन करें; जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है, जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलंबित हो; ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा,—ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वा

अपने ऊँचे पद से गिर जाता है,—इसमें कोई सन्देह नहीं; लेकिन आज-कल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं, कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नही सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े,—वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आज-कल भारतवर्ष के ही नहीं, योरोप के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपनी रचना-द्वारा किसी-न-किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं; अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर, यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगो का 'ला मिज़रेबुल', टालस्टाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ, विचार-प्रधान होते हुए उच्चकोटि की साहित्यिक हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रंथ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।

हमारा खयाल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे, जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है, जब देश सम्पन्न और सुखी हो।

जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे ? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए : अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा ।

डिकेंस इंग्लैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेष,—सबकी रचना हो गई। 'साइलस मारिनर' भी अँग्रेज़ी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका हैं, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तसवीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लैटर' भी हॅथर्न की बहुत ही सुन्दर, मर्म-स्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुकद्दमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यास-

कारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गये ; इसलिए, भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला, जो हमारे गाँव में रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक ज़रा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। 'एम० एंड्रूज़ हिम' रुडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन एक इंजीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वही उस काव्य का आधार था। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वह घंटों अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगो को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातो को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा—"मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी, जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।" इसका फल था—'जेन आयर'।

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हालकेन का नाम पाठकों ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का हिन्दी-अनुवाद हाल ही में

'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइ-विल से प्लाट मिलते हैं। 'मेटरलिंक' वेलजियम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हें वेलजियम का शेक्सपियर कहते हैं। उनका 'मोनावोन' नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालेन' एक जर्मन ड्रामा से। शेक्सपियर के नाटकों का मूल-स्थान खोज-खोजकर कितने ही विद्वानों ने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग 'डाक्टर' वन सकते हैं। 'तिलिस्म होशरुबा' फारसी का एक वृहत् पोथा है, जिसके रचयिता अकबर के दरबारवाले फैज़ी कहे जाते हैं, हालाँकि हमें यह मानने में संदेह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम-से-कम २०,००० पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व० बाबू देवकीनन्दन खत्री ने 'चंद्रकान्ता' और 'चंद्रकान्ता-संतति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं, जिन पर हज़ारों वरसों से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आये हैं और शायद हज़ारों वर्षों तक लिखते जायँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर न जाने कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गई हैं। यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए एक अशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा', जिसका पता

पहले मिश्र देश के तीन हज़ार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रान्स से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों-की-त्यों मिलती है।

किन्तु, यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नये कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता, जो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुन्तला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की ज़रूरत नहीं।

रचना-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं, उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती—कलम उठाया और लिखने लगे ; लेकिन, नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है, मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य विषयों से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण से,—किसी को नये, सुरम्य स्थान की सैर से इस

विषय में यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नई-नई कल्पनाएँ जाग्रत् होती हैं।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी, उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा; मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं? कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुजर जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढंग निकाला है। दल-के-दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक काग़ज़ के टुकड़े पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेदवार को वह टुकड़ा देकर उस नाम के सम्बन्ध में ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है,—उसके बालों का रंग क्या है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहाँ रहती है? उसका बाप क्या काम करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर न दिये, तो उन्हें अयोग्य समझकर विदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है; पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नहीं है।

लेखकों के लिए एक नोटबुक का रहना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रक्खी; पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज़,

कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है, जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हरएक प्रकार की चीज़ों को वे अलग-अलग खानो में संगृहीत कर ले। बरसों के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं ; लेकिन आरम्भ-काल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिए, एक उपन्यासकार की नोटबुक का नमूना—

'अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण, सुफेद बाल, आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूँछें ऐंठी हुईं।'

'सितम्बर १, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब काला, हरा चमकीला ; लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से झाग उड़ता हुआ।'

उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहाँ मिलते हैं ? तो आपने कहा—"चारों तरफ।—अगर लेखक अपनी आँखें खुली रक्खे, तो उसे हवा में से भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों में, मनुष्यों के वार्तालाप में और हजारों जगहों से सुन्दर

कहानियाँ बनाई जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देख-भाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप-ही-आप अपने मतलब की बात छाँट लेती है। दो साल हुए, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों-ही-बातों में यह चर्चा छिड़ गई कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ, तो क्या हो? इस अंकुर से मैंने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकालीं।"

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए। वालटर वेसेण्ट अपनी 'उपन्यास-कला' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"उपन्यासकार को अपनी सामग्री, आले पर रक्खी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए, जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे, वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा? यह सत्य है; लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकों में नये चरित्र न मिलें; पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।"

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किये हैं, वह भी देखिए—

"अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है, तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है; लेकिन, कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं, उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं कि आप सैनिक जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अँग्रेज़ उपन्यासकार को जानता हूँ, जिसने अपनी एक कहानी में फ्रांस के प्रोटेस्टैंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा—'आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला?' (फ्रान्स रोमन-कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टैंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखाई पड़ते।) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्रोटेस्टैंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक बार का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया, जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें यह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी, जो एक इञ्च से एक योजन की खबर लाती है और शिल्पी के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है।"

मिस्टर जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में

बड़े प्रवीण हैं। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है, वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं—

"कहानी में जो रहस्य हो, उसे कई भागों में बाँटना चाहिए। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अंत में मुख्य रहस्य खुल जाय। लेकिन, हर एक भाग में कुछ-न-कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए, जिसमें पाठक की इच्छा सब-कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अन्त में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मज़ा है, जब कि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो, जिस पर कोई भूलकर भी सन्देह न कर सकता था।"

उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक भी कल्पनाशील होता है; इसलिए, वह ऐसी बातें पढ़ना पसन्द नहीं करता, जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब-कुछ खुद कह डाले और पाठ की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका-मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसा भर लेता है। कुशल लेखक वही है, जो यह अनुमान कर

कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो, उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है, तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज़्यादा बतलाता है, तो कहानी मे मज़ा नहीं आता। किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करने की ज़रूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरंत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत-सी अनावश्यक बातो के आ जाने की सम्भावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें आप-ही-आप मस्तिष्क से निकल जाती है, केवल मुख्य बातें स्मृति पर अंकित रह जाती हैं। तब उस दृश्य का वर्णन करने में अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं—

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हम उन्हें 'राम' और 'श्याम' कहेंगे।

राम—गुड ईवनिंग श्याम, कहो आनन्द तो है ?

श्याम—हलो राम, तुम आज किधर भूल पड़े ?

राम—कहो क्या रंग-ढंग है ? तुम तो भले ईद के चाँद हो गये।

श्याम—मैं तो ईद का चाँद न था; हाँ, आप गूलर के फूल भले ही हो गये।

राम—चलते हो संगीतालय की तरफ?

श्याम—हाँ, चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है, जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बताना ही उसका ध्येय है, तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

'अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।'

———

[५]

काव्य और कला

हिन्दी में साहित्य की आलोचना का दृष्टिकोण बदला हुआ-सा दिखलाई पड़ता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के आलोचकों की विचार-धारा जिस क्षेत्र में काम कर रही थी, वह वर्तमान आलोचनाओं के क्षेत्र से कुछ भिन्न था। इस युग की ज्ञान-सम्बंधिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचन-शैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप मे दिखाई देने लगा है; किन्तु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जाती है। परिणाम में, मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचार-धारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है। काव्य की विवेचना में प्रथम विचारणीय विषय उसका वर्गीकरण हो गया है और उसके लिए संभवतः हेगेल के अनुकरण पर काव्य का वर्गीकरण कला के अन्तर्गत किया जाने लगा है। यह वर्गीकरण परम्परागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है, जो पश्चिम में ग्रीस की विचार-धारा और उसके अनुकूल सौन्दर्य-बोध के सतत अभ्यास से हुआ है। यहाँ उसकी परीक्षा करने के पहले यह देखना आवश्यक है कि इस विचार-धारा और सौन्दर्य-बोध का कोई भारतीय मौलिक उद्गम है या नहीं।

यह मानते हुए कि ज्ञान और सौन्दर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं। खगोलवर्ती ज्योति-केन्द्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर सम्बन्ध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा में सौन्दर्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा होनेवाले सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारों का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न करता है, और वही रुचि सौन्दर्य-अनुभूति की तुला बन जाती है। इसी से हमारे सजातीय विचार बनते हैं और उन्हें स्निग्धता मिलती है। इसी के द्वारा हम अपने रहन-सहन, अपनी अभिव्यक्ति का सामूहिक रूप से संस्कृति-रूप में प्रदर्शन कर सकते हैं। यह संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं; क्योंकि इसका उपयोग तो मानव-समाज में, आरम्भिक प्राणित्व-धर्म में सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। संस्कृति मन्दिर, गिरजा और मसजिद-विहीन प्रान्तों में अन्तःप्रतिष्ठित होकर सौन्दर्य-बोध की बाह्य सत्ताओं का सृजन करती है। संस्कृति का सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक सम्बन्ध है। धर्मों पर भी इसका चमत्कार-पूर्ण प्रभाव

दिखाई देता है। ईरानी खलीफाओं के ही कला और विद्या-प्रेम तथा सौन्दर्यानुभूति ने, जो उनकी मौलिक संस्कृति द्वारा उनमें विद्यमान थी, मरुभूमि के एकेश्वरवाद को सौन्दर्य से सजाकर स्पेन और ईजिप्ट तक उसका प्रचार किया, जिससे वर्तमान यूरोपीय सौन्दर्य-बोध अपने को अछूता न रख सका। संस्कृति. सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।

इसलिए साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौन्दर्यानुभूति की खोज अप्रासङ्गिक नहीं; किन्तु आवश्यक है। साहित्य में सौन्दर्य-बोध-सम्बन्धी रुचि-भेद का वह उदाहरण बड़ा मनोरंजक है, जिसमें जहाँगीर ने शराब पीते हुए खुशरो के उस पद्य के गाने पर कव्वाल को पिटवा दिया था, जिसका तात्पर्य एक खंडिता का अपने प्रेमी के प्रति उपालम्भ था। जहाँगीर ने उस उक्ति को प्रेमिका के प्रति समझकर अपना क्रोध प्रकट किया था। मौलाना ने समझाया कि खुसरो भारतीय कवि है, भारतीय साहित्यिक रुचि के अनुसार उसने यह स्त्री का उपालम्भ पुरुष के प्रति वर्णन किया है, तब जहाँगीर का क्रोध ठंढा हुआ। यह रुचिभेद सांस्कृतिक है। यहाँ पर यह विवेचन नहीं करना है कि ऐसा उपालम्भ पुरुष को स्त्री के प्रति देना चाहिए या स्त्री को पुरुष के प्रति; किन्तु यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है।

इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतन्त्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः' मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्रीधर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मानकर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।

यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे, तो जहाँगीर की ही तरह प्रमाद कर बैठने की आशंका है। तो भी इस प्रसंग में यह बात न भूलनी चाहिए कि भारतीय संस्कृत वाङ्मय में समय-चक्र के प्रत्यावर्तनों के द्वारा इस रुचि-भेद में परिवर्तनों का आभास मिलता है। ऊपर की कही हुई सम्भावना या साहित्यिक सिद्धान्त, मायावाद के प्रबलता प्राप्त करने के पीछे का भी हो सकता है; क्योंकि कालिदास ने रति का करुण विप्रलम्भ वर्णन करने के साथ-ही-साथ अज का भी विरह-वर्णन किया है और मेघदूत तो विरही यक्ष की करुण-भाव-व्यंजना से परिपूर्ण एक प्रसिद्ध अमर कृति है।

इस प्रकार काल-चक्र के महान् प्रत्यावर्तनों से पूर्ण भारतीय वाङ्मय की सुरुचि-सम्बन्धी विचित्रताओं के निदर्शन बहुत-से मिलेंगे। उन्हें बिना देखे ही अत्यन्त शीघ्रता में आजकल अमुक वस्तु अभारतीय है, अथवा भारतीय संस्कृति-

सुरुचि के विरुद्ध है, कह देने की परिपाटी चल पड़ी है। विज्ञ समालोचक भी हिन्दी की आलोचना करते-करते 'छायावाद', 'रहस्यवाद' आदि वादों की कल्पना करके उन्हें विजातीय, विदेशी तो प्रमाणित करते ही हैं, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते है कि वर्तमान हिन्दी-कविता में अचेतनों में, जड़ों में, चेतना का आरोप करना हिन्दीवालों ने अँगरेजी से लिया है ; क्योंकि अधिकतर आलोचकों के गीत का टेक यही रहा है कि हिन्दी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब वाह्य वस्तु (foreign element) है। कहीं अँगरेजी में उन्होंने देखा कि 'गाड इज़ लव'। फिर क्या ? कहीं भी हिन्दी में ईश्वर के प्रेम-रूप का वर्णन देखकर उन्हें अँगरेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ती है। उन्हें क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थ पंचदशी में कहा है— 'अयमात्मा परानन्द परप्रेमास्पदं यतः' वे भूल जाते हैं कि आनन्दवर्द्धन ने हजारों वर्ष पहले लिखा है—

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।

ऐसे ही कुछ सिद्धान्त पिछले काल के अलंकार और रीतिग्रन्थों के अस्पष्ट अध्ययन के द्वारा और भी बन रहे हैं। कभी यह सुना जाता है कि भारतीय साहित्य में दुःखान्त और तथ्यवादी साहित्य अत्यन्त तिरस्कृत हैं। शुद्ध आदर्शवाद का सुखान्त प्रबन्ध ही भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। तब

मानो ये आलोचकगण भारतीय संस्कृति के साहित्य-सम्बन्धी दो आलोक-स्तम्भों, महाभारत और रामायण की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। ये सब भावनाएँ साधारणतः हमारे विचारो की संकीर्णता से और प्रधानतः अपनी स्वरूप-विस्मृति से उत्पन्न हैं। सांस्कृतिक सुरुचि का समय-समय पर हुए विशेष परिवर्तनों के साथ, विस्तृत और पूर्ण विवरण देना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है।

हमारे यहाँ इसका वर्गीकरण भिन्न रूप से हुआ। काव्य-मीमांसा से पता चलता है कि भारत के दो प्राचीन महानगरो में दो तरह की परीक्षाएँ अलग-अलग थीं। काव्यकार-परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार-परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी। इस तरह भारतीय ज्ञान दो प्रधान भागों में विभक्त था। काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित-कलाओं के साथ-साथ काव्य-समस्या-पूरण भी एक कला है; किन्तु वह समस्यापूर्ति (श्लोकस्य समस्यापूरणं क्रीडार्थं वादार्थं च) कौतुक और वादविवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल-मात्र समझी जाती थी। कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।

ज्ञान के वर्गीकरण में पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक

रुचि-भेद विलक्षण है। प्रचलित शिक्षा के कारण आज हमारी चिन्तन-धारा के विकास में पाश्चात्य प्रभाव ओत-प्रोत है और इसलिए हम वाध्य हो रहे हैं, अपने ज्ञान-सम्बन्धी प्रतीकों को उसी दृष्टि से देखने के लिए। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विवेचन में हम केवल निरुपाय होकर ही प्रवृत्त नहीं होते; किन्तु विचार-विनियम के नये साधनों की उपस्थिति के कारण संसार की विचार-धारा से कोई भी अपने को अछूता नहीं रख सकता। इस सचेतनता के परिणाम में हमें अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन करना चाहिए; क्योंकि हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्वल नहीं है।

हिन्दी में आलोचना कला के नाम से आरम्भ होती है। और साधारणतः हेगेल के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त विभागों के द्वारा कलाओं में लघुत्व और महत्त्व समझा जाता है। इस विभाग में सुगमता अवश्य है; किन्तु इसका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन होने की संभावना, जैसी पाश्चात्य साहित्य में है, वैसी भारतीय साहित्य में नहीं। उनके पास अरस्तू से लेकर वर्तमान काल तक की सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धिनी विचार-धारा का क्रम-विकास और प्रतीकों के साथ-साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्छा साधन उनकी अविच्छिन्न सांस्कृतिक एकता भी है। हमारी भाषा के साहित्य में वैसा सामञ्जस्य नहीं है। वीच-वीच में इतने अभाव या अंधकार-काल हैं कि उनमें कितनी ही विरुद्ध

संस्कृतियाँ भारतीय रंगस्थल पर अवतीर्ण और लोप होती दिखाई देती हैं, जिन्होंने हमारी सौन्दर्यानुभूति के प्रतीकों को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही उद्योग किया है।

यों तो पाश्चात्य वर्गीकरण में भी मतभेद दिखलाई पड़ता है। प्राचीन काल में ग्रीस का दार्शनिक प्लेटो कविता का संगीत के अन्तर्गत वर्णन करता है; किन्तु वर्तमान विचार-धारा मूर्त्त और अमूर्त्त कलाओं का भेद करते हुए भी कविता को अमूर्त्त संगीत-कला से ऊँचा स्थान देती है। कला के इस तरह विभाग करनेवालों का कहना है कि मानव-सौन्दर्य-बोध की सत्ता का निदर्शन तारतम्य के द्वारा दो भागों में किया जा सकता है। एक स्थूल और वाह्य तथा भौतिक पदार्थों के आधार पर ग्रथित होने के कारण निम्न कोटि की, मूर्त्त होती है। जिस का चाक्षुष् प्रत्यक्ष हो सके, वह मूर्त्त है। गृह-निर्माण-विद्या, मूर्त्ति-कला और चित्रकारी, ये कला के मूर्त्त विभाग हैं और क्रमशः अपनी कोटि में ही सूक्ष्म होते-होते अपना श्रेणी-विभाग करती हैं।

संगीत-कला और कविता अमूर्त्त कलाएँ हैं। संगीत-कला नादात्मक है और कविता उससे उच्च कोटि की अमूर्त्त कला है। काव्य-कला को अमूर्त्त मानने में जो मनोवृत्ति दिखलाई देती है, वह महत्त्व उसकी परम्परा के कारण है। यों तो साहित्य-कला उन्हीं तर्कों के आधार पर मूर्त्त भी मानी जा सकती है; क्योंकि साहित्य-कला अपनी वर्णमालाओं के द्वारा

प्रत्यक्ष मूर्त्तिमती है। वर्णमातृका की विशद कल्पना तन्त्र-शास्त्रों में बहुत विस्तृत रूप से की गई है। अ से आरम्भ होकर ह तक के ज्ञान का ही प्रतीक अहं है। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, जितने ज्ञान हैं, अहं के—आत्मा के हैं। वे सब वर्णमाला के भीतर से ही प्रकट होते हैं। वर्णमालाओं के सम्बन्ध में अनेक प्राचीन देशों की आरम्भिक लिपियों से यह प्रमाणित है कि वह वास्तव में चित्र-लिपि है। तब तो यह कहना भ्रम होगा कि चित्र-कला और वाङ्मय भिन्न-भिन्न वर्ग की वस्तुएँ हैं; इसलिए अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निदर्शन न करके, केवल मूर्त्त और अमूर्त्त के भेद से साहित्य-कला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।

सम्भव है कि इसी अमूर्त्त-सम्बन्धिनी महत्ता से प्रेरित होकर, प्लेटो ने प्राचीन काल में कविता को संगीत के अन्तर्गत माना हो। उनकी विचार-पद्धति में कविता की आवश्यकता संगीत के लिए है। सम्भवतः अमूर्त्त संगीत आभ्यन्तर और मूर्त्त शरीर बाह्य इन्हीं दोनों आधारों पर कला की नींव ग्रीस के विचारकों ने रक्खी; सो भी बिलकुल भौतिक दृष्टि से—अध्यात्म का उसमें सम्पर्क नहीं। इसीलिए प्लेटो का शिष्य अरस्तू कला को अनुकरण (imitation) मानता है। लोकोत्तर आनन्द की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया। उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रक्खा गया।

कौटिल्य की तरह लोकोपयोगी राजशास्त्र को प्रधान

मानते हुए व्यक्तिगत जीवन के स्वास्थ्य के लिए प्लेटो संगीत और व्यायाम को मुख्य उपादेय विद्या की तरह ग्रहण करता है। संगीत का मन से और व्यायाम का शरीर से सीधा सम्बन्ध जोड़ कर वह लोक-यात्रा की उपयोगी वस्तुओं का संकलन करता है।

वर्तमान काल में सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से यह वर्गीकरण अपना अलग विचार विस्तार करने लगा है। इसके आविर्भावक हेगेल के मतानुसार कला के ऊपर धर्म-शास्त्र का और उससे भी ऊपर दर्शन का स्थान है। इस विचार-धारा का सिद्धान्त है, कि मानव सौन्दर्य-बोध के द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है। फिर धर्मशास्त्र के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति लाभ करता है। फिर शुद्ध तर्क-ज्ञान से उससे एकीभूत होता है।

यह भी विचार का एक कोटि-क्रम हो सकता है: परन्तु भारतीय विचार-धारा इस सम्बन्ध में जो अपना मत रखती है वह विलक्षण और अभूतपूर्व है। काव्य के सम्बन्ध में यहाँ की प्रारम्भिक और मौलिक मान्यता कुछ दूसरी थी। उपनिषद् में कहा है—तदेतत् सत्यम् मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायाम् बहुधा सन्ततानि। कवि और ऋषि इस प्रकार पर्यायवाची शब्द प्राचीन काल में माने जाते थे। ऋषयो मंत्रदृष्टारः। ऋषि लोग या मन्त्रों के कवि उन्हें देखते थे। यही देखना या दर्शन कवित्व की महत्ता थी।

इतना विराट् वाङ्मय और प्रवचनों का वर्णमाला में स्थायी रूप रखते हुए भी कविता शुद्ध अमूर्त्त नहीं कही जा सकती। मूर्त्त और अमूर्त्त के सम्बन्ध में उपनिषद् में कहा है—
'द्वावेव ब्राह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च'—बृहदारण्यक (२-३)

मूर्त्त, नश्वर और अमूर्त्त, अविनश्वर दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं। वायु और आकाश अमूर्त्त अविनश्वर हैं; इनसे इतर मूर्त्त और नश्वर (परिवर्तनशील) है। इस तरह मूर्त्त और अमूर्त्त का भौतिक भेद मानते हुए भी रूप दोनों में ही माना गया है। तब यह विश्वास होता है कि हमारे यहाँ रूप साधारण परिभाषा से विलक्षण कल्पना है; क्योंकि बृहदारण्यक में लिखा है :—

'स आदित्य कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषाहि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति हो वाच हृदयेनहिरूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि।'

वह आदित्य आलोक-पुञ्ज आँखों में प्रतिष्ठित है। आँखों की प्रतिष्ठा रूप में है और रूप-ग्रहण का सामर्थ्य. उसकी स्थिति, हृदय में है। यह निर्वचन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों में रूपत्व का आरोप करता है; क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त रूप हैं उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। इस दृष्टि से देखने से मूर्त्त और अमूर्त्त की सौन्दर्य-बोध-सम्बन्धी दो धाराएँ अधिक महत्त्व नहीं

रखती। सीधी बात तो यह है कि सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं; इसलिए अमूर्त्त सौन्दर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

ग्रीक लोगों के सौन्दर्य-बोध में जो एक क्रम-विकास दिखलाई पड़ता है, उसका परिपाक संभवतः पश्चिम में इस विचार-प्रणाली पर हुआ है कि मानव-स्वभाव सौन्दर्यानुभूति के द्वारा क्रम-विकास करता है और स्थूल से परिचित होते-होते सूक्ष्म की ओर जाता है। इस स्वर्ग और नरक का, जगत् की जटिलता से परे एक पवित्रता और महत्त्व की स्थापना का मानसिक उद्योग दिखलाई देता है और इसमें ईसाई धार्मिक संस्कृति ओत-प्रोत है। कलुषित और मूर्त्त संसार निम्न-कोटि में, अमूर्त्त और पवित्र ईश्वर का मार्ग इससे परे और उच्च कोटि में।

भारतीय उपनिषदों का प्राचीन ब्रह्मवाद इस मूर्त्त विश्व को ब्रह्म से अलग निकृष्ट स्थिति में नहीं मानता। वह विश्व को ब्रह्म का स्वरूप बताता है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

आगमों में भी शिव को शक्ति-विग्रही मानते हैं। और यही पक्की अद्वैत-भावना कही गई है; अर्थात्—पुरुष का

शरीर प्रकृति है। कदाचित अर्द्धनारीश्वर की संश्लिष्ट कल्पना का मूल भी यही दार्शनिक विवेचन है। संभवतः पिछले काल में मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतार की जननी है। कला के ईसाई आलोचक हेवेल ने सम्भवतः इसीलिए कहा है कि—The Hındu draws no distinction between what is sacred and profane.

पूर्व, भारत से पश्चिम का यह मौलिक मतभेद है। यही कारण है कि पश्चिम स्वर्गीय साम्राज्य की घोषणा करते हुए भी अधिकतर भौतिक या matarialistic बना हुआ है और भारत मूर्त्ति-पूजा और पञ्च-महायज्ञों के क्रियाकाण्ड में भी आध्यात्म-भाव से अनुप्राणित है।

यही कारण है कि ग्रीस-द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्या-नुभूति वाह्य को, मूर्त्त को, विशेषता देकर उसकी सीमा में ही उसे पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचार-धारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए वाह्य और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सौन्दर्य-बोध में पाश्चात्य विवेचकों के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त भेद-सम्बन्धी कल्पना विवेचन की रीढ़ बन रही है। जब यह अमूर्त्त के साथ सौन्दर्य-शास्त्र का सम्बन्ध ठहराती है, तो दुर्बलता में ग्रस्त होने के कारण अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती। इसका कारण यही है

कि वे सद्भावात्मक ज्ञानमय प्रतीकों को अमूर्त सौन्दर्य कह कर घोषित करते हैं, जो सौन्दर्य के द्वारा ही विवेचन किये जाने पर केवल प्रेय तक पहुँच पाते है। श्रेय, आत्मकल्याण-कल्पना अधूरी रह जाती है।

सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की साधना आरम्भ होती है। स्वाध्याय बुद्धि का यज्ञ है। कहा भी है—सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च—स्वाध्याय प्रवचन में सत्य का अन्वेषण करो। स्वाध्याय के द्वारा मानव सत् को प्राप्त होता है। हमारे सब बौद्धिक व्यापारों का सत्य की प्राप्ति के लिए सतत उद्योग होता रहता है। वह सत्य प्राकृतिक विभूतियों में, जो परिवर्तन-शील होने के कारण अनृत नाम से पुकारी जाती हैं. ओत-प्रोत है। कुछ लोग कह सकते हैं कि कवि से हम सत्य की आशा न करके केवल सहृदयता ही पा सकते हैं; किन्तु सत्य केवल १ + १ = २ में ही नहीं सीमित है। अनृत को प्रायः बढ़ाकर देखने से सत् लघु कर दिया गया है : किन्तु सत्य विराट् है। उसे सहृदयता-द्वारा ही हम सर्वत्र ओत-प्रोत देख सकते हैं। उस सत्य के दो लक्षण बताये गये हैं—श्रेय और प्रेय। इसी-लिए सत्य की अभिव्यक्ति हमारे वाङ्मय में दो प्रकार से मानी गई है—काव्य और शास्त्र। शास्त्र में श्रेय का आत्मात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामञ्जस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज में व्यवहृत सिद्धान्तों के संकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है।

काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है; क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। अयमात्मा वाङ्मयः, मनोमयः प्राणमयः —(वृहदारण्यक)। उपविज्ञात प्राण, विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।

इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन-शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निर्वचन करने की वाक्-शक्ति और इनके सामञ्जस्य को स्थिर करने वाली सजीवता अविज्ञात प्राणशक्ति ये तीनों आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं।

मन संकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वह शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इस के द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की, कमी हो जाती है। शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान को इसीलिए विज्ञान मान सकते हैं कि उसके मूल में परीक्षात्मक तर्कों की प्रेरणा है और उनका कोटि-क्रम स्पष्ट रहता है।

काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेय-मयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा

की मनन-क्रिया, जो वाङ्मय-रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।

इसी कारण हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है? किन्तु इसीलिए साथ-ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अंतर्निहित रहती है; क्योंकि सत्य अथवा श्रेय-ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है।

ज्ञान की जिस मनन-धारा का विकास पिछले काल में परम्परागत तर्कों के द्वारा एक दूसरे रूप में दिखाई देता है,

उसे हेतु विद्या कहते हैं ; किन्तु वैदिक साहित्य के स्वरूप में उषा सूक्त और नारदीय सूक्त इत्यादि तथा उपनिषदों में अधिकांश संकल्पात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति हैं। इसीलिए कहा है—तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का जो प्रसंग आता है, उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचा देती हैं। सम्भवतः इसीलिए काव्य-समस्या-पूरण इत्यादि भी छन्दशास्त्र और पिङ्गल के नियमों के द्वारा बनने के कारण उपविद्या कला के अन्तर्गत माना गया है। छन्दशास्त्र काव्योपजीवी कला का शास्त्र है ; इसलिए यह भी विज्ञान का शास्त्रीय अथवा विषय है। वास्तुनिर्माण, मूर्त्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते है और इन सब की विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तु हैं।

भवन्ति शिल्पिनो लोके चतुर्धा स्व स्व कर्मभिः स्थपति.सूत्रग्राही च वर्धकिस्तक्षकस्तथा। (मयमतम् ५ अध्याय।) चित्र के सम्बन्ध में भी चित्राभासमिति ख्यातं पूर्वै. शिल्प विशारदैः (शिल्परत्न अध्याय ३६)। इस तरह वास्तुनिर्माण, मूर्त्ति और चित्र शिल्पशास्त्र के अन्तर्गत हैं।

काव्य के प्राचीन आलोचक दण्डि ने कला के सम्बन्ध में लिखा है—नृत्यगीतप्रभृतयः कलाकामार्थ संश्रयाः (३-१६२) नृत्य गीत आदि कलाएँ कामाश्रय कलाएँ हैं। और इन कलाओं की

संख्या भी वे ६४ बताते हैं, जैसा कि कामशास्त्र या तन्त्रों में कहा गया है। इत्थं कला चतुवष्ठि विरोधः साधु नीयताम् (२-१७१)। काव्यादर्श में दण्डि ने कलाशास्त्र के माने हुए सिद्धान्तों में प्रमाद न करने के लिए कहा है; अर्थात्—काव्य में यदि इन कलाओं का कोई उल्लेख हो, तो उसी कला के मतानुसार। इससे प्रकट हो जाता है कि काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तु हैं। नतच्छिल्पम् न सा विद्या न सा कला ११७ (१ अध्याय भरत नाट्य) की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं— कला गीत वाद्यादिका। इसी से गाने बजानेवालों को अब भी कलावन्त कहते हैं।

भामह ने भी जहाँ काव्य का विषय-सम्बन्धी विभाग किया है, वहाँ वस्तु के चार भेद माने हैं—देव-चरित शंसि, उत्पाद्य, कलाश्रय और शास्त्राश्रय। यहाँ भामह का तात्पर्य है—कला-सम्बन्धी विषयो को लेकर भी काव्य का विस्तार होता है। काव्य का एक विषय कला भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला का वर्गीकरण हमारे यहाँ भिन्न रूप से हुआ है।

कलाओं में संगीत को लोग उत्तम मानते हैं; क्योंकि इसमें आनन्दांश वा तल्लीनता की मात्रा अधिक है; किन्तु है यह शुद्ध ध्वन्यात्मक। अनुभूति का ही वाङ्मय अस्फुट रूप है। इसीलिए इसका उपयोग काव्य के वाहन रूप में किया जाता है, जो काव्य की दृष्टि से उपयोगी और आकर्षक है।

संगीत के द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति केवल ध्वन्या-

त्मक होती है। वाणी का सम्भवतः वह आरम्भिक स्वरूप है। वाणी के चार भेद प्राचीन ऋषियों ने माने हैं। चत्वारि वाक्‌-रिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीया वाचं मनुष्या वदन्ति (ऋग्वेद) वाणी के ये चार भेद आगे चलकर स्पष्ट किये गये, और क्रमशः इनका नाम परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी आगमशास्त्रों में मिलता है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा गुहा निहित हैं। वैखरी वाणी मनुष्य वोलते हैं। शास्त्रों में परा वाणी को नादरूपा शुद्ध अहं परामर्श-मयी शक्ति माना है। पश्यन्ती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य प्रधान, द्रष्टा रूपवाली है। मध्यमा वाच्य और वाच्य का विभाग होने पर भी बुद्धि प्रधान दर्शन स्वरूपा द्रष्टा और दृश्य के अन्तराल में रहती है। वैखरी स्थानकरण और प्रयत्न के वल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करनेवाली दृश्य-प्रधान होती है।

वृहदारण्यक में कहा है—यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणोह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति। प्राणशक्ति सम्पूर्ण अज्ञात वस्तु को अधिकृत करती है। वह अविज्ञात रहस्य है। इसीलिए उसका नित्य नूतन रूप दिखाई पड़ता है। फिर यत् किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्धि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति, जो कुछ जाना जा सका, वही वाणी है; वाणी उसका स्वरूप धारण कर उस ज्ञान की रक्षा करती है।

ज्ञान-सम्बन्धी करणों का विवेचन करने में भारतीय पद्धति

ने परीक्षात्मक प्रयोग किया है। स्वप्रमितिक के ज्ञान के लिए पाँच इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष हैं। उन्हीं के द्वारा संवेदन होता है, उन में तन्मात्रा के क्रम से वाह्य पदार्थों के भी पाँच विभाग माने गये हैं। 'आकाशाद् वायुः' वाले सिद्धान्त के अनुसार आकाश का गुण शब्द ही इधर ज्ञान के आरम्भ में है। जो कुछ हम अनुभव करते हैं, वाणी उसका रूप है। यह वाणी का विकास वर्णों में पूर्ण होता है और वर्णों के लिए आभ्यन्तर और वाह्य दो प्रयत्न माने गये हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न उसे कहते हैं, जो वर्णों की उत्पत्ति से प्राग्भावी वायु व्यापार है। और वर्णोत्पत्ति-कालिक व्यापार को वाह्य प्रयत्न कहा जाता है। यह वाङ्मय अभिव्यक्ति, मनन की प्राणमयी क्रिया, आत्मानुभूति की प्रकट होने की चेष्टा है। इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है—य एकोऽवर्णो वहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो वुद्धया शुभया संयुनक्तु। भावों को व्यक्त करने का मौलिक साधन वाणी है; इसलिए वही प्रकृति है।

आर्य-साहित्य में उन वर्णों के संगठन के तीन रूप माने गये हैं—ऋक् = पद्यात्मक, यजु = गद्यात्मक और साम = संगीतात्मक। वैदिकाश्च द्विविधाः प्रगीता अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि, अप्रगीताश्च द्विविधाः छन्दोवद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्र प्रथमाऋचः द्वितीया यजूंषि।—(सर्वदर्शन-संग्रह) यही आर्य-वाणी की आरम्भिक उच्चारण शैली है, जो दूसरों के आस्वाद के लिए श्रव्य कही जाती है।

काव्य को इन आरम्भिक तीन भागों में विभक्त कर लेने पर उसकी आध्यात्मिक या मौलिक सत्ता का हम स्पष्ट आभास पा जाते हैं, और यही वाणी—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है।

वाणी के द्वारा अनुभूतियों को व्यक्त करने के बाद एक अन्य प्रकार का भी प्रयत्न आरम्भ होता है। दूर रहनेवाले, चाहे वह देश-काल के कारण से ही हो, केवल व्यष्टि का आश्रय लेनेवाली उच्चारणात्मक वाणी का आनन्द नहीं ले सकते; इसलिए वह व्यक्ति-द्वारा प्रकट हुई आत्मानुभूति सामूहिक या समष्टि भाव से विस्तार करने का प्रयत्न करती है। और तब चित्र, लिपि, तक्षण इत्यादि-सम्बन्धी अपनी बाह्य सत्ता को बनाती है।

।

ऊपर कहा जा चुका है कि कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या माना गया है। आगमों के अनुशीलन से, कला को अन्य रूप से भी बताया जा सकता है। शैवागमो मे ३६ तत्त्व माने गये हैं, उनमें कला भी एक तत्त्व है। ईश्वर की कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्ति के स्वरूप कला, विद्या, राग, नियति और काल माने जाते हैं। शक्ति-संकोच के कारण जो इन्द्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियो का वही संकुचित रूप बोध के लिए है। कला संकुचित कर्तृत्व शक्ति कही जाती है।

भोजराज ने भी अपने तत्त्व-प्रकाश में कहा है—

व्यञ्जयतिकर्तृशक्तिं कलेति तेनेह कथिता सा।

शिव-सूत्र-विमर्शिनी में क्षेमराज ने कला के सम्बन्ध में अपना विचार यों व्यक्त किया है—

कलयति स्व स्वरूपा वेशेन तत्तद् वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला-व्यापारः।

इस पर टिप्पणी है:—

कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।

अर्थात्—नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।

स्व को कलन करने का उपयोग, आत्म-अनुभूति की व्यंजना में, प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया जाता है—अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत। ये तीन प्रकार से प्रतीक-विधान काव्य-जगत् में दिखाई पड़ते हैं। अनुकूल, अर्थात्—ऐसा हो। यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल, अर्थात्—ऐसा नहीं। यह आत्मा के अविज्ञात अंश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नहीं। अद्भुत—आत्मा का विजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं, कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीक-विधानों में आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और

व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादों के मूल सन्निहित हैं जिसकी विस्तृत आलोचना की यहाँ आवश्यकता नहीं। कला को तो शास्त्रों में उपविद्या माना है। फिर उसका साहित्य में या आत्मानुभूति में कैसा विशेष अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करने के समय यह बात ध्यान में रखनी होगी कि कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नही, अनुभूति के लिए शब्द-विन्यास, कौशल तथा छन्द आदि भी अत्यन्त आवश्यक नही।

व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है; क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं। उस अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने के लिए हम चाहें, तो कला का नाम ले सकते हैं, और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए, किन्तु मेरा मत है कि यह सब समय-समय की मान्यता और धारणाएँ हैं। प्रतिभा का किसी कौशल-विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा-सी चल पड़ी है।

हाँ, फिर एक प्रश्न स्वयं खड़ा होता है कि काव्य में शुद्ध

आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की ?

काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आचरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं, तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके ?

किन्तु यह बात तो नहीं है। सोलह मात्रा के छंद में अन्तर्भावों को प्रकट करने की जो विदग्धता उन्होंने दिखाई है वह कविता-संसार में विरल है। फिर क्या कारण है कि रामचन्द्र के वात्सल्य-रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की ? मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण। श्रीकृष्ण की महाभारत के युद्ध-काल की प्रेरणा, सूरदास के हृदय के उतने समीप न थी,

जितनी शिशु गोपाल की वृन्दावन की लीलाएँ। रामचन्द्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबन्ध-काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रम-परम्परा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्याय-पूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य निर्लिप्त कृष्णचन्द्र की शिशु-मूर्त्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।

दोनों कवियो के शब्द-विन्यास-कौशल पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या विशिष्ट-पद-रचना-युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।

इसीलिए, अभिव्यक्ति सहृदयो के लिए अपनी वैसी व्यापक सत्ता नहीं रखती, जितनी अनुभूति। श्रोता, पाठक और दर्शकों के हृदय में कविकृत मानसी प्रतिभा की जो अनुभूति होती है, उसे सहृदयो में अभिव्यक्ति नही कह सकते। वह भाव-साम्य का कारण होने से लौटकर अपने कवि की अनुभूतिवाली मौलिक वस्तु की सहानुभूति-मात्र ही रह जाती है, इसलिए व्यापकता आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की है।

---

[६]

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता, उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यो के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण-द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओ मे भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाये

गये हैं, पर सबका अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबन्ध नहीं है, जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ युरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसीलिए देख पड़ते हैं। यदि आजकल दो-चार नाटक ऐसे देख भी पड़ने लगे हैं, तो वे भारतीय आदर्श से दूर और युरोपीय आदर्श के अनुकरण-मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए, यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से सतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलंबों की इतिश्री हो चुकी थी; पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

"भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है।
विनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुनावारि भूमि भिजई है॥
राम-राज भयो काज सगुन सुभ राजाराम जगत विजई है।
समरथ बडो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥"

आनन्द की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अनुभूत आनन्द की कल्पना में मानों नाच उठता है। हिंदी-साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय

शासन का युग था ; परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी-कवियो में यद्यपि पश्चिमीय आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की सम्भावना हो रही है; परन्तु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं, तब उनमे भी साहित्य की भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति उस समय की है, जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरान्त अस्थि-पञ्जर मात्र ही रहे होंगे, पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शनशास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं, तथा आनन्द-स्वरूप हैं। बन्धन मायाजन्य

है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा माया-जन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानवजीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धान्त का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है, अतः केवल अध्यात्मपक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो

पवित्र भावनाओं और जीवन संबंधी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारो का विस्तार अधिक नही हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते है। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गम्भीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्षभावो की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं; परन्तु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई; परंतु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित-सी हो गई है। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुन्दर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है; परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोंग रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं

एक तो साम्प्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा 'कृष्ण' का आधार लेकर की हुई हिन्दी के श्रृङ्गारी कविताओं के रूप में। हिन्दी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं, तो कम से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलम्बन मानकर हमारे श्रृङ्गारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्‌गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला, वह समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस श्रृङ्गारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्‌भावना कर लेते हैं; पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अव-हेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की श्रृङ्गारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियो में मानव-वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती है। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण-से झरने अथवा ताड़-से लम्बे-लम्बे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं; परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीप-वर्तिनी लताओं की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके है, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है; वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करने तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति से संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते है तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा स्वं

सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौंदर्यज्ञान उच्चकोटि का होता है।

प्रकृति के रम्यरूपो से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि; अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के सबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य-जगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नही चल सकता; अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर मे पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपो में एक अव्यक्त; किंतु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति-संबंधी रहस्यवाद कह सकते है, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते है। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है, परन्तु रहस्यवादी कवियो को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपो की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपो की नही होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचार-धारा के कारण हिंदी में बहुत थोड़े

रहस्यवादी कवि हुए हैं; परंतु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संघटन अथवा छंद-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं है; प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण-द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं; परन्तु साधारणतः हम यह देखते है कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अँगरेज़ी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं; परंतु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में अंतर रहता है। एक में

वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीति-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर मात्रिक अथवा लघु मात्रिक आदि छंद-समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है; परंतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य के इतिहास से उतना पृथक् नहीं है, जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती; क्योंकि ये सब बातें थोड़ी-बहुत अंतर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

सकती है। समष्टि का हितसाधन कर, व्यष्टि में समष्टि का भाव उत्पन्न करना, समष्टि से बाहर होकर नहीं हो सकता। हमारी पूर्ण आत्मप्रतीति, अपनी पूर्ण आत्मा के संबंध में, जिसका व्यंजन सारे संसार में हो रहा है, रहकर हो सकती है। समाज से पृथक् रहकर हम अपने आदर्श की किस प्रकार पूर्ति कर सकते है ? समाज में हमको जो स्थान मिला है, उसके उचित कर्त्तव्यों का पालन करने से हम अपने आदर्श की पूर्ति कर सकते हैं।

समाज में व्यक्ति की स्थिति और उत्तरदायित्व

समाज में प्रत्येक मनुष्य अपनी विशेष स्थिति रखता है। जिस प्रकार कि मशीन में हर एक पुर्जा मशीन के चलने में योग देता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थानोचित क्रिया करके संसार के निर्विघ्न सञ्चालन में योग देना आवश्यक है। जैसे एक पुर्जे के खराब होने से सारी मशीन खराब होती है, वैसे ही एक व्यक्ति के धर्मच्युत होने से सारा समाज भ्रष्ट हो जाता है। धर्मच्युत होने से यदि केवल व्यक्ति ही की हानि होती, तो शायद धर्म का पालन न करना इतना दोप-पूर्ण न होता ; किंतु जब एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है, तब व्यक्ति का धर्म-परायण रहना परमावश्यक हो जाता है और व्यक्ति का उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' यदि

अर्जुन उस समय क्षत्रिय-धर्म को छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लेता, तो वह समाज में अधर्म फैलानेवाला बन जाता। अर्जुन को समझाते हुए भगवान् ने कहा है—

* स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥

× × × ×

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

हमारे देश में वर्णाश्रम-धर्म-द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य पहले से ही निश्चित कर दिया गया है। यह बात कहाँ तक निर्विवाद है, इसके लिए हम कुछ न कहकर इतना अवश्य कहेंगे कि वर्णाश्रम-धर्म कर्त्तव्य-शास्त्र की बहुत-सी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के भिन्न-भिन्न धर्म होने के कारण सब मनुष्यों का एक-सा कर्त्तव्य नहीं रहता। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्त्तव्य का आदर्श बदल जाता है,

वर्णाश्रम-धर्म और कर्त्तव्य का सापेक्षत्व

---

* स्वधर्म को देखकर तुमको थर्राने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि क्षत्रिय के लिए धार्मिक युद्ध से श्रेष्ठतर क्या हो सकता है।

× × × ×

यदि तुम धार्मिक युद्ध से मुँह मोड़ोगे, तो धर्म और सुयश से हाथ धोकर पाप के भागी होगे।

किंतु समाज में आदर्श की पूर्ति के भिन्न-भिन्न साधन होना आवश्यक है। समाज की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार और रुचि के मनुष्य चाहिएँ। इस कारण उनके कर्त्तव्यों में अवश्य भेद चाहिए। सबका एक-सा कर्त्तव्य नहीं हो सकता। जो ब्राह्मण के लिए कर्त्तव्य है, वह क्षत्रिय के लिए अकर्त्तव्य है। सब एक लाठी से नहीं हाँके जा सकते। समाज में यदि सब ही लोग मनन-शील बन जायँ, तो उसका चलना कठिन हो जाय। वर्ण-विभाग करके हिंदू-धर्म ने कर्त्तव्य के सापेक्षत्व (Relativity of Ethics) को भली भाँति दिखलाया है। आश्रमों के विभाग कर देने से लोगों के कर्त्तव्य में बड़ी सुगमता पड़ गई है। विद्योपार्जन के साथ-ही-साथ धर्मोपार्जन नहीं हो सकता और धर्मोपार्जन के साथ मौन-व्रत धारण करके वन में बैठना नहीं हो सकता। वर्णाश्रम-धर्म के यथोचित परिपालन से समाज की अच्छी उन्नति हो सकती है। लोक-संग्रह का भी अर्थ स्थानोचित कर्त्तव्यों का पालन तथा समाज के धर्म में स्थिति रखना है। समाज में साम्य स्थापित करने के अर्थ किसी काम को कर्त्तव्य-दृष्टि से करना सच्चा निष्काम कर्म है और इसी में सच्ची आत्म-प्रतीति भी होती है; क्योंकि समाज आत्मा का ही विकास है। अपना स्वार्थ छोड़ सामाजिक हित के अर्थ कर्म करना 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' का ही अर्थ रखती है; क्योंकि मनुष्य-समाज ईश्वर की सत्ता का श्रेष्ठ व्यंजक है।

आत्मा की सत्ता में विश्वास रखे विना समाज की स्थिति चाहना वृथा है।

समाज में साम्य किस लिए स्थापित करना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर देना उन लोगों के लिए, जो समाज में अपनी आत्मा का प्रकाश देखते हैं, कुछ कठिन नहीं। किंतु, जो लोग आत्म-सत्ता में विश्वास नहीं करते, उनके लिए सामाजिक स्थिति वा साम्य एक प्रकार का पाखंड ही है। समाज की स्थिति की चेष्टा किस लिए की जाय ? प्रकृतिवादियों की ओर से यह उत्तर मिलेगा कि समाज को ही स्थिति में व्यक्ति का पूर्ण लाभ है। ठीक है, मनुष्य की चेतना को मस्तिष्क के परमाणुओं की क्रियाओं का परिणाम माननेवाले लोगों के मत में व्यक्ति की स्थिति का भी कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता। मनुष्य इस संसार की आकस्मिक क्रियाओं का फल है। इस प्रकृति के विशेष संघात (जिसे की मनुष्य कहते हैं) के जीवित रहने से क्या लाभ ? यदि यह कहा जाय कि इस विशेष संघात का मूल्य बहुत बढ़ गया है, तो ठीक है। किंतु, वह मूल्य किस के लिए है और उसका जाननेवाला कौन है, इसका उत्तर नहीं। हम पहले बतला चुके हैं कि आस्तिकता के दृढ़ आधार पर ही कर्त्तव्य-शास्त्र का भव्य भवन बनाया जा सकता है। जब तक हम आत्मभाव (Personality) के विशेष मूल्य को न मानेंगे, तब तक हम संसार में मूल्यों के समझनेवाले को मानकर विज्ञान की संकुचित दृष्टि को विस्तृत न कर

सकेंगे। जब तक हम सारे समाज को एक ही ज्ञान-स्वरूप सत्ता (आत्मा) का विकास न समझेंगे, तब तक 'सर्वभूत-हितेरताः' 'समाज में साम्य स्थापित करना', 'समाज की स्थिति बनाये रखना', 'जीवन की मात्रा को बढ़ाना' ये सब वाक्य निरर्थक ही रहेंगे।

हमारे आदर्श और सामाजिक संस्थाएँ

सामाजिक विकास और उसकी वर्तमान स्थिति भी समाज के आध्यात्मिक आधार होने के साक्षी हैं। समाज में इतनी खराबी होने पर भी, अपने कर्त्तव्य-पालन की स्वतंत्रता है। मानसिक आदर्श के अनुकूल ही हमारा सामाजिक संस्थान भी बनता जा रहा है और हमारी सामाजिक सस्थाओं के अनुसार हमारे कर्त्तव्य संबंधी विचार भी दृढ़ होते जाते हैं। दोनों ही एक दूसरे के आश्रय हैं। हमारे देश के अविभक्त कुटुंब, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-धर्म, पाठशालाएँ, उत्सव, रीति-व्यवहार आदि सभी उपनिषदों-द्वारा प्रतिपादित एकात्मवाद की अनुकूलता दिखा रहे हैं। हमारे यहाँ के प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ताओं ने स्वतंत्र लेखक होने का गौरव अस्वीकार कर अपने को टीका-कारों अथवा भाष्यकारो की नीची कोटि में रखकर ही अपने जीवन को सफल समझा है। गृहस्थाश्रम के धर्म ऐसे रखे गये है, जिनमें ऐक्य-भाव स्वतः ही उत्पन्न होता रहे। यह आश्रम बड़ा भारी कर्त्तव्यस्थल है। इसीलिए इसकी महिमा भी बहुत है। मनु महाराज ने कहा है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थाश्रमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥३।७७
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्जेष्ठाश्रमो गृही ॥३।७८
ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिन्यस्तेभ्यः कार्यं विजानतः ॥३।८० *

और स्थनो में भी गृहस्थाश्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है—

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रिय.।
शास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ †

---

* अर्थ—जिस प्रकार सब जीव-जन्तु वायु का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार इतर सब आश्रम गृहस्थाश्रम के ही सहारे बसते हैं। अन्य तीन आश्रमवाले लोग गृहस्थ लोगों से ही अन्न और ज्ञान प्राप्त करते हैं, इसलिए गृहस्थ आश्रम और आश्रमों से बड़ा है। ऋषि, पितर, देव, जीवधारी और अतिथि सब ही गृह-आश्रम का सहारा लेते हैं। इस गृहस्थाश्रमवाले को इनके प्रति अपना धर्म जानकर आचरण करना चाहिए।

† अर्थ—न्यायपूर्वक धन कमानेवाला आत्मज्ञान में निष्ठा रखनेवाला, अतिथि-सेवा करनेवाला, शास्त्र को जाननेवाला और निरंतर सत्य बोलनेवाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

सानंदं सदनं सुताश्च सुधियः कांता न दुर्भाषिणी ।
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ॥
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्ठान्नपानं गृहे ।
साधोः संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥*

यदि गृहस्थाश्रम में धन का उपार्जन और दान कर्त्तव्य माना गया है, तो गृहस्थों का दान स्वीकार करने को और आश्रम भी बना दिये गये हैं। यदि संन्यासियों को धर्मोपदेश देने का भार दिया गया है, तो उनके उपदेश से लाभ उठाने के लिए लोग वर्तमान हैं। यदि संसार की स्थिति बनाये रखना और प्रजोत्पादन करके ऋषि-ऋण चुकाना धर्म माना गया है, तो उसकी पूर्ति के लिए विवाह की संस्था वर्तमान है। यदि देना धर्म है, तो दान लेनेवाले भी विद्यमान हैं। यदि समाज का संगठन श्रेय माना गया है, तो उसके लिए राज्य और साम्राज्य वर्तमान है। ये सब बातें यह बतलाती हैं कि हमारी सामाजिक संस्थाएँ हमारे आदर्शों के अनुकूल ही बनी हैं और

---

* अर्थ—उस गृहस्थाश्रम को धन्य है, जहाँ आनन्ददायक गृह हैं, जहाँ बुद्धिमान् पुत्र है, जहाँ स्त्री कटुभाषिणी नहीं है, जहाँ अच्छे मित्र हैं, खूब धन है, जहाँ स्त्रियों के प्रति प्रेम है, जहाँ नौकर आज्ञाकारी है, जहाँ अतिथि-सत्कार होता है, जहाँ ईश्वर का पूजन नित्य होता है, मिठाई आदि भोजन रखे रहते हैं। और जहाँ निरन्तर ही सज्जनों का समागम होता रहता है।

इनके द्वारा हमारे आदर्शों की भली भाँति पूर्ति होना संभव है व्यक्तियों-द्वारा यथोचित लाभ न उठाये जाने के कारण बहुत सी संस्थाएँ बिगड़ भी जाती हैं। हम यह मानते हैं कि किसी देश की संस्थाओं का प्रभाव सब मनुष्यों पर एक-सा नहीं पड़ता; क्योंकि देखा गया है कि जहाँ पर बहुत-से विवाह करना मना नहीं है, वहाँ पर भी बहुत-से लोग एक पत्नीव्रत को दृढ़तः पाल रहे हैं। और जहाँ पर कि समाज में एक स्त्री से अधिक रखने की आज्ञा नहीं, वहाँ पर भी बहुत-से लोग इस रिवाज से यथोचित लाभ नहीं उठाते। तथापि इसमें कुछ सन्देह नहीं कि सामाजिक संस्थाएँ हमें कर्तव्य-परायण बनाने में बड़ी सहायता देती हैं और हमारे आदर्शों के लिए भौतिक ढाँचे की भाँति काम करती हैं।

जिस प्रकार किसी कार्य को करते-करते व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है, उसी प्रकार सामाजिक संस्थाएँ समाज का स्वभाव हैं: और जिस तरह मनुष्य स्वभाव से जाना जाता है, वैसे ही समाज अपनी संस्थाओं-द्वारा जाना जाता है। यूनानदेशीय आदर्श वहाँ की संस्थाओं में वर्तमान थे। हमारे देश के वर्णाश्रम-धर्म इस बात को क्या ही विद्वत्ता से प्रमाणित कर रहे हैं कि सामाजिक संस्थाएँ मानव-जीवन को कहाँ तक बुरा-भला बना सकती हैं। कभी ऐसा भी देखा गया है कि सामाजिक संस्थाएँ समाज के आदर्श के अनुकूल नहीं रहतीं।

सामाजिक संस्थाएँ और धार्मिक उन्नति।

तभी धर्म का ह्रास होने लगता है, धर्मोद्धार की आवश्यकता पड़ने लगती है, आवश्यकता के अनुकूल उनका आविर्भाव भी होने लगता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है कि—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

समाज के आदर्श को स्पष्ट करना और उससे संस्थाओं की संगति करना ही धर्मोद्धारक का मुख्य कर्त्तव्य होता है। यह कार्य धर्मोद्धारकों के ही बाँटे में नहीं पड़ा, वरन् प्रत्येक छोटे-से-छोटा मनुष्य भी पूरा धर्मोद्धारक है। इसलिए, उसका कर्त्तव्य है कि समाज के आदर्शों की, उसके धर्मों की और संस्थाओं की एकता करके, और अपने आदर्श को समाज के आदर्श में मिलाकर और अन्यान्य आदर्शों और संस्थाओं के अनुकूल अपने कर्मों को बनाकर समाज में अपनी पूर्ण आत्म-प्रतीति करे।

समाज के व्रत का विस्तार।

इस प्रकरण की समाप्ति के पूर्व समाज की व्याप्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि समाज का संकुचित अर्थ माना जाय, तो उसकी व्याप्ति किसी, विशेष संप्रदाय के लोगों से बाहर नहीं जाती; किन्तु उसके विस्तार का अन्त नहीं हो सकता। घर से लेकर मानव-जाति तक समाज का घेरा है। क्या हम इस घेरे को और नहीं बढ़ा सकते हैं? क्या पशु-पक्षी और कीट-पतंगों को भी हम अपने समाज में

सम्मिलित कर सकते हैं ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि जिन जीवों का इतना विकास हुआ है कि वे हमारी गोष्ठी में सम्मिलित किये जायँ, वे उसमें सम्मिलित किये गये हैं। मनुष्यों और जानवरों का क्या संग ? समाज के व्यक्तियों में एक दूसरे को सहायता देने का पारस्परिक भार रहता है। मनुष्यों और पशुओं में पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता ; इसलिए उन्हें मनुष्य-समाज में स्थान देना असम्भव है। इस विषय में एक और भी बाधा उपस्थित हो सकती है कि समाज में व्यक्तियो का सम्बन्ध होता है और बहुत-से जानवरो में व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। इन तीनों बाधाओं पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। विकास की श्रेणी में पशु-पक्षी अवश्य नीचा स्थान पाते है; किन्तु क्या यह बात उनको हमारी दया, अनुकम्पा और सहायता से वंचित रखने के लिए ठीक है ? यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो मनुष्य-समाज मे भी विकास की कई श्रेणियाँ हैं ; किन्तु आजकल की सभ्यता में सबका जीवन-मूल्य बराबर समझा जाता है। सभ्य मनुष्य के मारने पर भी फाँसी होती है और असभ्य जंगली मनुष्य. पागल वा बालक के मारने पर भी वही दण्ड दिया जाता है। क्या यह जीवन-सम्मान (Respect for life) मनुष्य-समाज में ही संकुचित रखना चाहिए ? क्या अपने विचार में जीवन की शृंखला पीछे नहीं हटाई जा सकती ? क्या हम उसी जीवन-शृंखला की एक कड़ी नहीं, जिसके पशु-पक्षी

है ? क्या जानवरों को जीवित रहने का वही नैतिक अधिकार नहीं, जो हम लोगों को है ? क्या उनका मूल्य उनके समाज में उतना ही नहीं, जितना हमारा मूल्य हमारे समाज में है ? दाम्पत्यप्रेम तो कहीं-कहीं जानवरों में मनुष्यों के ही बराबर देखा गया है। क्या पशु-पक्षी, कीट-पतंग इस विषय के कार्य-विभाग में स्थान नहीं पाते ? क्या विकासवाद के मत से जीव-धारी-मात्र एक कुटुंब के नहीं हैं ? पशु-पक्षी, कीट-पतंग संसार के कार्य-विभाग में अपना-अपना काम कर रहे हैं। वृक्षों के फलवान् होने में पक्षी-कीट-पतंग कहाँ तक साहाय्य देते हैं, यह बात किसी विज्ञ पुरुष से छिपी नहीं है। हम जिन श्रेणियों-द्वारा विकास को प्राप्त हुए, अब ऊँचे बनकर उनका तिरस्कार करना हमारी उच्चता को शोभा नहीं देता। दूसरी बाधा पर विचार करते हुए हम केवल इतना ही कहेंगे कि बदले का व्यवहार कानून की दृष्टि में चाहे आवश्यक हो, किंतु धर्म और कर्त्तव्य की दृष्टि से यह बाहर है। कर्त्तव्य-पालन द्वारा हमको सद्गुण-वृद्धि तथा आत्मतुष्टि-सरीखे मधुरतम फल मिलते हैं। यदि बदले की रीति से देखा जाय, तो भी मनुष्य अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकता। पशुओं से मनुष्य-जाति का जो उपकार हुआ है, वह हिंसक पशुओं-द्वारा पहुँचाई हुई हानि से अधिक है। खैर, इस बात को जाने दीजिए। मनुष्य-समाज ने हिंसक पशुओं से बदला लेने में कुछ रख नहीं छोड़ा। केवल इतना ही नहीं, वरन् और पशु भी, जो

मनुष्य-जाति की हानि करते हैं, मनुष्य-द्वारा उचित दंड पाए बिना नहीं रहते। फिर मनुष्य को क्या अधिकार है कि वे निरपराध पशुओं को सतावें? वे तो बदला ले नहीं सकते। पारस्परिक उपकार का प्रश्न भी एक प्रकार से नहीं उठता। पशु-संसार मनुष्य से उपकार नहीं चाहता। वह तो अभयदान चाहता है। वह सहायता नही चाहता, केवल इतना ही चाहता है कि मनुष्य अपनी हननेच्छा को थोड़ा वश मे रखे। मनुष्य की उनके प्रति इतनी ही सेवा पर्याप्त है कि वह उन्हें जीवित रहने दे। वे ऐसी सेवा चाहते हैं, जैसी निषाद ने श्री रामचंद्र को अपनी सेवा बतलाई थी कि 'यह हमार अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न भूषन बसन चुराई'। तीसरी कठिनाई जो व्यक्तिता के विषय में है, पहली कठिनाई से मिलती-जुलती है। व्यक्तिता की भी श्रेणी है। माना कि पशु-पक्षियों की व्यक्तिता मनुष्य की भाँति स्पष्ट नहीं है; और न उनमें मनुष्य का-सा आत्म-भाव (Personality) ही वर्तमान है; किंतु उनमें व्यक्तिता और आत्म-भाव किसी-न-किसी अंश में है अवश्य। उनकी व्यक्तिता उस पौधे की भाँति है, जो थोड़ा ही बढ़कर रह गया हो। जानवरों में यदि मनुष्य की-सी व्यक्तिता और आत्म-भाव वर्तमान होता, तो उस अवस्था में वे मनुष्य की बराबरी का ही दावा कर सकते थे, किन्तु इस अवस्था में क्या वे जीवन-दान की आशा नहीं रख सकते? वे मनुष्य की बराबरी नहीं चाहते, वे मनुष्य की राजनैतिक सभाओं के

सदस्य नहीं होना चाहते, जिसके लिए उनकी मानसिक योग्यता पर विचार किया जाय। वे तो जीव-धारी हैं, इसी से केवल जीवित रहने का अधिकार चाहते है। इन सब बातो पर विचार करके हम अपने समाज की सीमा को प्राणि-मात्र तक बढा दें, तो हम अपनी सच्ची आत्म-प्रतीति के सच्चे सहायक ही बनेंगे। समाज को इस विस्तृत दृष्टि से देखने के लिए हमको अपने आत्म-संबंधी विचारों को भी विस्तार देना होगा। जैसे-जैसे हमारे आत्म-सम्बन्धी विचार विस्तृत होते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे हमारी आत्म-प्रतीति का क्षेत्र बढ़ता जाता है। जो लोग अपनी व्यक्तिता में ही अपनी आत्मा को संकुचित कर देते हैं, उनकी आत्म-प्रतीति स्वार्थ-साधन में ही होती है। किन्तु हम उसे सच्ची आत्म-प्रतीति नहीं कह सकते। सच्ची आत्म-प्रतीति तभी हो सकती है, जब हम अपनी आत्मा को पूरा विस्तार देकर समष्टि को आत्मा से मिला दे और समष्टि के हित को अपना हित समझे। यह बात कठिन नहीं है। बहुत-से लोग आत्म-कल्याण को देश के हित-साधन में देखते हैं, और बहुत-से इससे भी आगे बढ़कर अपने हित को साम्राज्य के हित में मिला देते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो मनुष्य-मात्र का हित और अपना-हित एक कर देते हैं। इससे भी एक ऊँची श्रेणी प्राणि-मात्र से अपनी एकता करनेवालों की है। हिन्दू धर्म-ग्रन्थो ने अधिकतर इसी विस्तृत भाव का उपदेश दिया है। स्मृति-ग्रन्थों में अतिथि-सत्कार के साथ जानवरों

को भी भाग देना गृहस्थों का धर्म बतलाया गया है 'सर्वभूत-हितेरता.' 'जीवेषु दयां कुर्वन्ति साधवः' 'निर्वैरं सर्वभूतेषु' 'आत्मवत् सर्वं भूतेषु यः पश्यति स पण्डितः' इत्यादि वाक्यों-द्वारा कर्त्तव्य को मनुष्य-समाज से बढ़ाकर प्राणि-मात्र के प्रति कर दिया है। यही पूर्ण आत्म-सम्भावना वा आत्म-प्रतीति है।

समाज की व्याप्ति बढ़ाने में संभावित आपत्तियाँ और उनका निराकरण

कुछ लोग इस विस्तृत दृष्टि पर यह शंका अवश्य उठावेंगे कि जो लोग अपने दृष्टि-कोण को इतना विस्तृत कर देंगे, उनको कोई भी पदार्थ स्पष्टतः न दिखाई पड़ेगा। जो लोग सबके हित में तत्पर रहते हैं, वे किसी के भी हित-साधन में सफल नहीं होते। कभी-कभी ऐसा भी होता है, कि निकटवर्तियों के हित में और मनुष्य-मात्र के हित में विरोध पड़ जाता है, और जिनके प्रति हमारा मुख्य कर्त्तव्य है, वे हमारी उदारता से वंचित रह जाते हैं; इसलिए प्राणि-मात्र के हित-साधन की इच्छा न करते हुए समाज के एक परिमित भाग का ही हित-साधन श्रेय है। यह शंका क्रियात्मक है। इस शंका से हमारे सिद्धान्त के न्याय्य होने में बाधा नहीं पड़ती। अब इस पर कर्त्तव्य-बुद्धि से भी विचार कर लेना चाहिए। इस शंका के उठानेवाले स्वार्थ पर पूर्णतया विजय नहीं प्राप्त कर सकते। व्यवहार में स्वार्थ का जीतना कठिन है; किन्तु यह बात किसी सिद्धान्त की सत्यता में बाधा नहीं डाल सकती। इस शंका का मूल इस विचार में है

कि उपकारी मनुष्य के निकटवर्ती लोग उसके उपकार से लाभ उठाने के अधिकारी हैं। अँग्रेजी में एक लोकोक्ति है कि 'Charity begins at home' अर्थात्—दान का आरंभ घर से ही होना चाहिए ; किन्तु इसके ऊपर किसी ने यह भी कहा है 'But it should not end there' अर्थात्—उसका अन्त घर में ही न हो जाना चाहिए। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि घर के लोग भूखों मरें और बाहरवालों को धन लुटाया जाय, किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा, कि जो स्वार्थ-त्याग, आत्म-समर्पण और उदारता के गुण मनुष्य-मात्र के लिए उदारता दिखलाने में बढ़ते हैं, वे निकटवर्ती लोगों के साथ दिखाने में नहीं बढ़ते।

निकटवर्ती लोगों के साथ उपकार करने में एक प्रकार का उदात्त स्वार्थ लगा रहता है। बाइबिल में* ईसामसीह ने डाकुओं-द्वारा आहत एक मनुष्य का आख्यान कहते हुए बतलाया है कि 'तेरा पड़ोसी वही है, जिसके साथ तू उपकार कर सके।' जब हम अपना स्वार्थ छोड़कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को मानने लगेंगे, तब समीप और दूर के लोग बराबर हो जायँगे। यह अवश्य मानना पड़ेगा, कि कोई एक मनुष्य सारे विश्व का उपकार नहीं कर सकता, वह अपने निकटवर्ती लोगों के साथ ही उपकार करेगा, किन्तु उपकार करते समय, जिस बुद्धि से कार्य किया जाय, उसमें ही स्वार्थ

---

* लू० रचित सुसमाचार अध्याय १०।३०-३७।

और परार्थ हो जाता है। जब हम किसी का उपकार स्वार्थ-बुद्धि से करते हैं, तब हम स्वार्थी हैं; किंतु जब स्वार्थ त्यागकर किसी का उपकार करते हैं, तब हम विश्व का ही हित-साधन करते हैं। जिस मनुष्य का हम उपकार करते हैं, वह विश्व का एक अंग है और अंग अंगी से पृथक् नहीं। जो हमारी किसी उँगली पर मरहम लगावे, तो वह हमारे सारे शरीर की ही सेवा करता है। हम उपकार चाहे जिसके साथ करें, किंतु हमारी बुद्धि निःस्वार्थ होनी चाहिए। यदि हम निकटवर्ती लोगों के साथ उपकार कर रहे हैं, और कोई ऐसा अवसर आ जाय कि दूर का मनुष्य हमारी सहायता की आवश्यकता रखता हो, और उसको सहायता पहुँचाना सम्भव भी हो और हम उसकी सहायता न करें, केवल इस विचार से, कि उस मनुष्य से हमारा सम्बन्ध नहीं, तो हमको विश्व-हित के विरुद्ध जाना होगा। यदि यह कहा जाय कि देश-हित और मानव-जाति के हित में कभी-कभी विरोध पड़ता है, अथवा कुटुम्ब के हित और समाज के हित में विरोध पड़ता है, तो क्या ऐसी अवस्था में विस्तृत दृष्टि ही श्रेय है? देखा गया है कि बहुत से बड़े-बड़े आदमियों ने देश-हित के लिए कुटुम्ब के हित को तिलांजलि दी है। राजकीय आईन की मान-मर्यादा रखने के लिए अपने पुत्र वा निकटवर्ती कुटुम्बियों को प्राण-दंड तक दिया गया है। अपनी रक्षा कुटुम्ब की रक्षा से है, कुटुम्ब की रक्षा देश की रक्षा से है, देश की रक्षा मानव-जाति की रक्षा से है

और मानव-जाति की रक्षा विश्व की स्थिति में है। कभी-कभी देश और मानव-जाति के हित में जो विरोध पड़ा करता है, उसका कारण यह है कि मानव-समाज में अभी भिन्न-भिन्न आदर्श वर्तमान हैं। जैसे-जैसे आदर्शों की एकता होती जायगी और जैसे-जैसे मनुष्य-समाज एक प्रेम-सूत्र में बँधता जायगा, वैसे-ही-वैसे देश-भक्ति और विश्व-प्रेम में विरोध घटता जायगा। मानव-जाति का एक बड़ा साम्राज्य बन जायगा, जिसमें पशु-पक्षी आदि भी अपना उचित स्थान पावेंगे। एक नियम में बद्ध होने से विरोध घट जाता है। मनुष्य-समाज इस आदर्श की ओर जा रहा है। इस आदर्श की पूर्ति में योग देना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। एक नियम और आदर्श में बद्ध समाज में रहकर ही सच्ची आत्म-प्रतीति की संभावना है। जो इस संभावना को वास्तविकता में परिणत करने की चेष्टा करते हैं, वे उस चेष्टा में अपनी आत्म-प्रतीति कर रहे हैं। जब समाज में रहकर और समाज के हित से अपना हित मिला देने में ही आत्म-प्रतीति की आशा है, तो समाज में प्रतिष्ठित धर्मों को अपने आदर्श में घटाना आवश्यक है।

---

[८]

काव्य में रूप और अरूप

प्रायः सभी कलाओ के लिए मूर्ति आवश्यक है। अप्रहित मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है। जो भावना-पूर्ण सर्वांग-सुन्दर मूर्ति खींचने मे जितना कृतविद्य है, वह उतना बड़ा कलाकार है। पश्चिमी सभ्यता के मध्यकाल तक जब संसार की विभिन्न सभ्यता-प्रसूत वस्तु-भावनाओं का श्रेणी-विभाग, संचय तथा उपयोग नहीं हुआ था, कलाएँ अपने-अपने देश, संस्कृति तथा क़लम के अनुसार विभिन्न आकार, इंगित तथा भावनाएँ प्रदर्शित करती हुई भी एक ऐसी व्यजना कर रही थीं, जो तमाम भिन्नताओं के भीतर से एक भाव-साम्य की स्थापना करती थीं। संसार की भौतिक सभ्यता से सब देशों के गुँथ जाने के कारण संसार-भर के लोगों को वह आत्मिक लाभ पहुँचा। फल-स्वरूप कला में देश-भाव की जो संकीर्णता थी, आदान-प्रदान की सहृदयता ने उसे तोड़ दिया, कला की सृष्टि व्यापक विचारों से होने लगी, और हर जाति की उत्तमता से प्रेम-संबंध जोड़कर लोग उससे अपनी जातीय कला को प्रभावित करने लगे।

काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पड़ा। प्राचीन मालकौश राग की वीर मूर्ति अँगरेज़ी-स्वर में, नायिका

के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की ग़ज़लों में मिलने लगा, और बहार तथा आसावरी की लोकप्रियता, थियेटरों की मित्र-हृदय को गुदगुदाकर बाहरी चपलता से गिरह लगा देनेवाली रागिनियों ने ले ली। इसी प्रकार प्राथमिक चित्र भी अपने जातीय पद्य-वैशिष्ट्य की परिखा को पार कर संसार के प्रांगण में नये दूसरे-ही-दूसरे रूप से देख पड़ने लगे। उनके रूप-भाग में कुछ देशीय विशिष्टता रह गई; पर अरूप-भाग से वे मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति बन गये। अरूप-अंश, वर्णना-भेद के रखने पर भी, पूर्ववत् अक्लेद रहा, रूप-अंश ने जातीय विशिष्टता को रखते हुए संसार की सभ्यता से भी सहयोग किया।

रवीन्द्रनाथ भारतीय काव्य-साहित्य में इस कला के निपुण कलाकार हैं। उनका एक उदाहरण दूँगा—

"अचल आलोके रएछ दाँडाए,
किरण-वसन अंगे जड़ाए,
चरणेर तले पड़िडे गडाए,
छड़ाए विविध भंगे;
गंध तोमार घिरे चारि धार,
उडिछे आकुल कुन्तल-भार,
निखिल गगन काँपिछे तोमार,
परस - रस - तरंगे।

(अचल प्रकाश में तुम खड़ी हुई हो, किरणों की शुभ्र-

वसना, चरणों से ज्योति का वस्त्र विविध भंगों से टूटता ढुलकता हुआ। सुरभि तुम्हारी चारों दिशाएँ घेरे हुए है। केशों का व्याकुल भार उड़ता हुआ। तुम्हारे स्पर्श-रस की तरंगों से अखिल आकाश प्रकम्पित हो रहा है।)

यह नारी-मूर्ति इतनी मार्जित है कि इसे देखकर कोई विश्व-नागरिक इस ज्योतिर्मयी छवि पर मुग्ध हो जायगा। तुलसीदास के केवल-सौन्दर्य राम की तरह रवीन्द्रनाथ की इस सुन्दरी में जड़ता अणु-मात्र के लिए भी नहीं। यहाँ एक जगह रवीन्द्रनाथ का पश्चिम स्नेह रूपमय प्रमाण के तौर पर प्रत्यक्ष होता है। जहाँ चरणों से ज्योति का वस्त्र टूटता हुआ गिरता है, वहाँ ध्यान पश्चिम की सम्राज्ञियों के पीछे लटकते हुए लम्बे वस्त्र के छोर की ओर जाता है।

सौन्दर्य, रूप तथा भावनाओं के आदान-प्रदान में केवल पूर्व पश्चिम से प्रभावित हुआ, यह बात नहीं; सहृदयता का अमृत यहाँ से वहाँ भी अपनी मृत-संजीवनी का विशिष्ट परिचय दे रहा है। जिन-जिन प्रान्तों में अँगरेजी शासन का पहला प्रभाव पड़ा, इस नवीन साहित्य की जड़ वहाँ-वहाँ पहले जमी, और इसीलिए वहाँ के साहित्यिक इस कार्य में बहुत कुछ प्रगति कर चुके। मेरा मतलब ख़ास तौर से सुवर्ण बंगाल से है। बंगाल के अमर-काव्य 'मेघनाद-वध' के रचयिता माइकेल मधुसूदन-दत्त के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने महाकाव्य की रचना कई देशों के महाकवियों के अध्ययन के पश्चात् की

थी। वे फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन आदि कई भाषाएँ जानते थे, और योरप में रहने के समय काव्य-शास्त्र में काफ़ी प्रवेश कर लिया था। कुछ हो, माइकेल मधुसूदन की रचना में जितनी शक्ति मिलती है, उतना जीवन नहीं मिलता। रवींद्रनाथ-द्वारा वंग-भाषा को वह जीवन मिलता है। उनकी अकेली शक्ति बीस कवियों का जीवन तथा इंद्रजाल लेकर साहित्य के हृदय-केन्द्र से निकली और फैली।

हिंदी में छायावादी कहलानेवाले कवियों से इसका श्रीगणेश हुआ। प्राचीन साहित्य के रक्षकों की साहित्यिक प्रतिष्ठा को पार कर अपनी नवीनता की जड़ साहित्य के हृदय में पूर्ण रीति से जमाने में अकृतकार्य रहने पर भी अधिकांश आलोचकों के कहने के अनुसार पद्य-साहित्य का बाजार आजकल इन्हीं के हाथ है। श्रेय अभी खड़ी बोली के मध्यकाल के कवियों को मेरे विचार से अधिक है; पर जहाँ प्राणों की बात उठती है, वहाँ आधुनिक कवि ही ज़्यादा ठह-रते हैं। प्रसादजी की भावनाओं और पंतजी के चित्रों में अभीप्सित नवीनता की कोमल किरण बड़ी खूबसूरती से फूट निकली है।

पर अभी हमारे नवीन साहित्य को समयानुकूल परिमा-र्जित और भी विराट् भावनाएँ मिलनी चाहिए। इतने ही से उसका दैन्य दूर नहीं होता, और न अभी उसकी दिगंत पुष्टि ही गई है। जैसा भी कारण हो, हिंदी के नवीन पद्य-साहित्य

में विराट् चित्रों के खींचने की तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं, जितना छोटे-छोटे सुंदर चित्रों की ओर है। युक्तप्रांत, विहार, मध्य-भारत, मध्यप्रांत आदि एक ऐसी प्रकृति की गोद में हैं, जहाँ विराट् दृश्यों की अपेक्षा बाग़ तथा उपवनों के छोटे चित्र ही विशेषतः सूझते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों, समुद्र तथा आकाश के उत्तमोत्तम चित्र नहीं मिलते। रवींद्रनाथ द्वारा अंकित सौंदर्य का एक विराट् चित्र—

जेनो गो विवशा होयेछे गोधूली,
पूरवे आधार वेणी पड़े खुली,
पश्चिमेते पड़े खसिया-खसिया
सोनार आंचल तार ।

(मानो गोधूलि विवश हो रही है, पूर्व ओर उसकी अंधकार-वेणी खुली पड़ती है, और पश्चिम की तरफ़ खुल-खुलकर उसका सोने का आँचल गिर रहा है।)

छोटे रूप की क्षणिक प्रभा में स्थायी प्रभाव न मिलने के कारण रवींद्रनाथ कहते हैं—

"क्षुद्र रूप कोथा जाय वतासे उड़िया दुइ चारि पलकेर पर"

(छोटा रूप न-जाने कहाँ हवा में दो ही चार पल में उड़ जाता है।)

काव्य में साहित्य के हृदय को दिगंत व्याप्त करने के लिये विराट् रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यंत आवश्यक है। अवश्य छोटे रूपों के प्रति यहाँ कोई द्वेष नहीं दिखलाया

जा रहा। रूप की सार्थक लघु-विराट् कल्पनाएँ संसार के सुंदरतम रंगों से जिस तरह अंकित हों, उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप में सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष। इस तरह काव्य के भीतर से अपने जीवन के सुख-दुःखमय चित्रों को प्रदर्शित करते हुए परिसमाप्ति पूर्णता में होगी; जैसे—

कभी उडते पत्तो के साथ,
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।

---

[६]

ब्रज-भाषा-साहित्य में ईश्वर

यह युग विश्लेष का युग है। बहुत-से लोग यह सुनकर कह उठेंगे कि 'हर्गिज नहीं, यह युग सामूहिक समुत्थान का है।' वस्तुतः वर्तमान युग का समूह संघात-विश्लेष से भी गया-गुजरा है। एक युग था, जब एक देश की चिंता-धारा और साधना-पद्धति अनायास ही दूसरे देश की अपनी चीज हो जाती थी। उन दिनों न तो प्रोपेगैण्डा ही था और न इसके साधन ही ; फिर भी लोग सहज भाव से दूसरों की विशेषता ग्रहण कर लेते थे। पर आज राष्ट्रीयता की लहर इतनी तेज है कि हम किसी भी विदेशी वस्तु को बिना संदेह और शंका की दृष्टि से देखे नहीं रहते। देश की चहारदीवारी पार करके यह संकीर्णता 'काल' में पहुँच चुकी है। एक स्वदेश-प्रेमी अँग्रेज भारतीय चित्र-कला की सुन्दरता पर तब तक मुग्ध होना नहीं चाहता, जब तक उसमें ग्रीक या रोमन प्रभाव का प्रमाण न मिल जाय। यहाँ तक तो खैर है ; पर मामला और भी पेचीदा हो जाता है, जब हम ग्रीस या इजिप्ट की कला में उसी प्रकार की नैतिकता, जैसी इस युग में है, नहीं पाकर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। एक अँग्रेज पंडित ने ग्रीक-कलाकारों के बारे में कहा था कि "ग्रीक-चित्त किसी

प्रकार की सृष्टि से तृप्त नहीं होता था, जब तक कि उसे मनुष्य के आकार या भावों में से होकर न गुजरना पड़े। प्राचीन कवियों ने जड़ प्रकृति की वास्तविक रूप में कभी व्याख्या नहीं की। उन्होंने खेतों में या मेघ-पुञ्जों में आध्यात्मिकता का आरोप कभी नहीं किया।" पर इसीलिए अगर कोई ग्रीक-काव्य में रस न पावे, तो उपाय क्या है? ग्रीक-कवियों के सम्बन्ध में इस अँग्रेज पण्डित ने जो कुछ कहा है, वही बात व्रज-भाषा के कवियो के बारे में कही जा सकती है। उसमें इतना और जोड़ दिया जा सकता है कि व्रज-भाषा-कवि की सम्पूर्ण तृप्ति तब होगी, जब वह इस मानव-भावना को कृष्ण या राधा में पर्यवसित कर दे।

व्रज-भाषा का कवि एक विचित्र रहस्य-मय व्यक्ति है। वह अपने मनोभावों को राधा और कृष्ण या गोपी और गोपाल के रूप में इस प्रकार प्रकट करेगा, मानो वह इस व्यापार में एक तटस्थ साक्षी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसकी साधना में व्यक्ति का कुछ महत्त्व नहीं है; पर संसार के अन्य कवियो के नियम के प्रतिकूल अपनी प्रत्येक कविता में अपना नाम इस सावधानी और सतर्कता से रख देगा, मानों उसके व्यक्तित्व का न होना किसी भारी अपूर्णता का द्योतक है। उसके कृष्ण जिस प्रकार अनादि अनन्त होकर भी व्यक्तित्व की अवहेलना नहीं करते, वह भी उसी प्रकार पूर्ण तटस्थ होकर भी अपने व्यक्तित्व का मोह नहीं त्याग सकता।

ब्रज-भाषा के कवि के इस मनोभाव के समझने के लिए संस्कृत वाङ्मय के अलंकार-शास्त्र पर एक सरसरी निगाह दौड़ाये बिना काम नही चलेगा।

संस्कृत-अलंकार-शास्त्र की प्रारम्भ में दो शाखाएँ थीं। एक में तो नाटक के रस और उसके आलम्बन, नायक-नायिकाओं की विवेचना और दूसरे में संस्कृत के फुटकर श्लोकों के अलंकारों की समीक्षा हुआ करती थी। बाद को ये दोनों धाराएँ एक में मिल गईं। इसी समय ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। ध्वनि या व्यंग्य-अर्थ को काव्य की आत्मा बताया गया और रस को सर्वश्रेष्ठ ध्वनि। ध्वनि को समझने के लिए शब्द की तीन शक्तियों को समझना आवश्यक है। ये तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। पहली से शब्द का प्रचलित अर्थ जाना जाता है दूसरी से उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ और तीसरी शक्ति, इन दोनों से भिन्न अर्थ ध्वनित करती है। उदाहरणार्थ अगर गुरु किसी विद्यार्थी से कहता है कि 'सूर्य अस्त हो गया' तो इसका अभिधेय अर्थ वही होता है, जो इस वाक्य के शब्दों का कोश-व्याकरण-सम्मत अर्थ है; पर व्यग्य-अर्थ या ध्वनि यह है कि 'पाठ बन्द करो, संध्या-वन्दन का समय हो गया।' कहना नहीं होगा कि यह अर्थ बिल्कुल निराला है। 'सूर्य अस्त हो गया' वाक्य के किसी अंश से इसका सम्बन्ध नहीं है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य अभिनव गुप्तपाद इस मत की

पुष्टि के लिए शास्त्र-प्रमाण खोजने लगे ; क्योंकि उस युग में कुछ आप्त-प्रमाण दिये विना किसी मतवाद की प्रतिष्ठा नही की जा सकती थी। फलतः वैयाकरणों के स्फोटवाद का सहारा लेना पड़ा। स्फोटवाद का आश्रय पाकर ध्वनि-संप्रदाय गठित हो उठा ; परन्तु रस को संपूर्णतः ध्वनि के अंतरगत करना अभी वाकी था। भरत के नाट्य-शास्त्र के रस-सूत्र का आधार पाकर अभिनव गुप्त ने इस काम को भी योग्यता के साथ कर डाला। हम अधिक सूक्ष्म विषयों की अवतारणा नहीं करना चाहते ; पर व्रज-भाषा के कवि की तटस्थ-वृत्ति का सूत्र इसी रस-सूत्र की व्याख्या में पाया जाता है। अतः उसकी सामान्य चर्चा कर देना अनुचित और अस्थान प्रयुक्त नहीं समझना चाहिए।

अभिनव गुप्त से पूर्ववर्ती एक भट्टनायक नामक आचार्य ने रस-सूत्र की व्याख्या करते समय वताया था कि नाटकीय रस की अनुभूति दर्शक को साधारणीकरण व्यापार के द्वारा होती है। दर्शक, राम से रामत्व और सीता से सीतात्व दूर कर उन्हें साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में ही देखता है ; यहाँ तक कि वह अपने से मैं-पन को भी अलग कर एक दम साधारण रूप में हो जाता है। ऐसा अगर न होता, तो सामाजिकों के सामने राम-सीता का प्रेमालाप सुना सकना असंभव था। उसमें लज्जा आदि विविध वाधाएँ उपस्थित होतीं। अभिनव गुप्त ने इस मत में संशोधन किया। वे कहते हैं कि

दर्शक के हृदय में जो पूर्व-अनुभूति विद्यमान रहती है, वस्तुतः वही रस-बोध का कारण है। साधारणीकरण व्यापार केवल उस अनुभूति का रास्ता साफ़ कर देता है। पण्डितराज के शब्दों में चित् शक्ति भग्नावरण हो जाती है। उत्तरकालिक आलंकारिकों में से अधिकांश ने इस साधारणीकरण व्यापार की उपयोगिता स्वीकार की है। व्रज-भाषा के कवियों ने तो इसमें किसी दिन संदेह ही नहीं किया।

इस प्रकार जिस समय व्रज-भाषा-कविता का बाल्य-जीवन प्रारम्भ हो रहा था, उस समय भारतीय काव्य में व्यक्तित्व की महत्ता घट चुकी थी। साधारणीकरण व्यापार ने आसन जमा लिया था। कवि का Impersonal रूप अधिकाधिक विकसित हो रहा था। व्रज-भाषा की कविता के दुर्भाग्य से उस समय विदेशी शासन का प्राबल्य था; इसलिए शृङ्गार-साहित्य की यह तटस्थता, जो स्वतंत्रता के युग में भूषण हो सकती थी, इस युग में दूषण हो गई। आज के सुधारकों को पानी पी-पी कर व्रज-भाषा-साहित्य को कोसने का अवसर मिल गया। संस्कृतज्ञों से छिपा नहीं है कि भारत के सुवर्ण-युग का संस्कृत-साहित्य शृङ्गार के रंग में व्रज-भाषा से कम नहीं रँगा है; बल्कि कुछ अधिक। व्रज-भाषा में तो ये बातें वहीं से रफ्तनी की गईं।

जर्मनी के सुविख्यात चित्रकार Von Uhde ने जब ईसा मसीह के चित्रों को आधुनिक परिच्छेद में सजाना शुरू किया

था, तो कहते हैं, योरप में बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। पूछा गया था—"किसी धार्मिक कथा को क्या आप आधुनिक परिच्छेद में सजा सकते हैं? सेंट जोसेफ को मोटे लबादे में और विर्जिन (Virgin) के सिर को तुर्की शाल से सुसज्जित रूप में क्या कल्पना की जा सकती है? फिर भी प्राचीन चित्रकारों ने बाइबिल के समस्त उपाख्यानों के चित्रों को अपने युग की पोशाक में ही अंकित किया।"

ब्रज-भाषा के कवियों ने भी युगल-मूर्ति को अपने युग की भाव-भाषा में अंकित किया है। इस बात के लिए आप उनको दोषी नहीं ठहरा सकते। आज ज्ञान का प्रकाश सुदूर अतीत तक पहुँच सका है। आप खूब निपुण भाव से रामायण के युग के राम को अंकित कीजिए; पर भूल न जाइए कि आपकी यह कला विश्लेष-युग की कला है, इसमें ज्ञान की उज्ज्वलता है; पर साधना की गम्भीरता नहीं। भारतवर्ष में जो साधना शताब्दियों पर शताब्दियों की संघट्टना से अजन्ता और ताज-महल की रचना कर सकी है, वही साधना साहित्य के रूप में भी गठित हो उठी है। इस गठन में अपने युग की छाप है। इस छाप के लिए आप किसी को दोषी नहीं ठहरा सकते।

हमने एक बार कहा था कि ब्रजभाषा का शृङ्गार-साहित्य निरपेक्ष साहित्य है? अर्थात् ब्रजभाषा का कवि कविता लिख कर निश्चित हो जाता है। उसे इस बात के सोचने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि समाज इस कविता से बनेगा

या बिगड़ेगा। यद्यपि वह आज के कवियों की भाँति चिल्लाता नहीं कि 'कला, कला के लिए है' पर वह अपने को बहुत कुछ इस सिद्धान्त का पोषक ही प्रकट करता है। केशवदास ने जिस दिन चंद्रवदनियों के बाबा कहने पर अपने सफेद बालों को कोसा था, उस दिन उन्हें स्वप्न में भी यह खयाल नहीं था कि किसी मृगलोचनी के :लोचन इस कविता पर पड़ेंगे। निरपेक्ष भाव से यह साहित्य राधिका और कृष्ण को अपना प्रेम समर्पित करता है।

आज के युग मे और उस युग में बड़ा अन्तर है। उस युग का कवि एक पूर्ण निर्णीत नियम को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर अपनी रचना करता है। वह अपनी प्रतिभा के दर्पण में अपने आप को नूतन रूप में देखने की चेष्टा नहीं करता। प्राचीनता का सदा सनातन सत्य के रूप में स्वीकार कर के वह अपना संसार आरम्भ करता है। आज का कवि अपने को नित्य नूतन रूप में प्रकट करने के लिए व्याकुल है। वह एक सकीर्ण सीमा तैयार करता है, दूसरे ही क्षण उसे तोड़ कर दूसरी सीमा की रचना में व्यस्त हो जाता है। सीमा की इस अनवरत भंजन-लीला को वह नित्य नूतन समझने लगता है। यही कारण है कि वर्तमान युग के अस्त-व्यस्त काव्य-समूह में अनवरत धारा का अभाव है। इसे एक धारा कहना ही अनुचित है। एक पंडित का कथन है कि "विश्लेष का यह युग नाना विक्षोभ और समस्याओं से होकर गुजर

रहा है। सब मिलाकर एक बड़ी चीज को गढ़ लेना या समन्वय की चेष्टा इस युग में नहीं देख पड़ती। ......योरप में वर्तमान कला के बहुमुखी सौन्दर्य को देखकर निश्चय ही विस्मित होना पड़ता है; पर यह कहना कठिन है कि अतीत और वर्तमान, सनातन और सामयिक के भीतर समन्वय की एक चेष्टा न देखकर चित्त में क्षोभ नहीं होता।" व्रज-भाषा के कवियों ने इस समन्वय के महत्त्व को समझा था। आप सूरदास से पद्माकर तक का व्रज-साहित्य देख जाइए, उसमें एक योग-सूत्र पायेंगे, एक मर्यादा की प्रतिष्ठा देखेंगे। इस योग-सूत्र का प्रधान आलंबन है, युगल-मूर्ति।

वर्तमान युग की कविता की सबसे बड़ी समस्या है, इस योग-सूत्र का अभाव। इस यन्त्र-युग में एक शताब्दी पहिले की चिन्ताधारा के साथ आज की चिन्ताधारा का योग-निर्वाह करने-कराने की फुरसत किसी को नहीं। इसका भयानक परिणाम यह हुआ कि सौ-सवा-सौ वर्ष तक किसी एक चिंता-धारा को जीवित देखकर वर्तमान समालोचक काँप उठता है। उसमें एक धृष्टता की गन्ध आने लगती है। वह न ग्रीक कविता की प्रशंसा कर पाता है और न व्रज-साहित्य की माधुरी पर मुग्ध हो सकता है। मगर मजा यह है कि वह कभी-कभी इस प्रकार के साहित्य में वर्तमान युग की फिला-सफी का ऐसा प्रकाश पाता है कि आकाश-पाताल एक कर देता है। व्रज-भाषा के विपुल साहित्य में श्रीकृष्ण और राधा-

रानी की अनन्त माधुर्यलीला तो है; पर उसमें किसी आध्यात्मिक तत्त्व का निर्णय नहीं किया गया है। जो आलोचक उसमें आध्यात्मिकता पाते हैं, उनकी बात हमारी समझ में नहीं आती। जो खोजते हैं, उनकी चेष्टा का सफल होना असंभव जान पड़ता है। फिर भी व्रज-भाषा का घोर शृङ्गारी कवि यह कभी नहीं भूलता कि उसकी वर्णित लौकिक लीला किसी अति-प्राकृत की लीला है। व्रज-भाषा की कविता में यही विशेषता है, जो उसे संसार के साहित्य से अलग कर देती है। बंगाल के वैष्णव कवियो में यह भाव है और आश्चर्य यह है कि इस प्रकार के साहित्य की भाषा को बंगाल में भी 'व्रज बूलि' या व्रज-भाषा कहते हैं। मानों इस मधुर और विचित्र साहित्य का 'व्रज-भाषा-साहित्य' के अतिरिक्त और कुछ नाम ही नहीं दिया जा सकता।

अति प्राकृत में प्राकृत-सौन्दर्य, सीमाहीन में ससीम माधुर्य और अन्तहीन में सान्त भाव देखना ही इस कवि की साधना है। इसको यह अपने आप (Automatically) कर जाता है; क्योंकि वह उसी रंग में रँग गया है।

भाषा कविता का वाहन है। व्रज के कवि ने इस भाषा को ऐसा माँजा है कि वह जो कुछ भी कहता है, उसमें न जाने कहाँ से युगल-मूर्ति का शुभागमन हो जाता है। मध्य युग में संगीत के उत्कर्ष के समय मुसलमान उस्तादों ने जो गान बनाये, उनमें राधा-माधव जरूर आ जाते हैं। एक दिन

'शान्ति-निकेतन' के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने क्लासिकल हिन्दुस्तानी म्यूजिक के बारे में कुछ त्रुटियों का उल्लेख करते समय उसकी भाषा पर भी यह टिप्पणी करदी थी कि उसकी भाषा पुरानी शृङ्गारी भाषा है। गोपियों का पनघट पर जाना, वहाँ कृष्ण का छेड़-छाड़ करना, इत्यादि दो-चार बातों को छोड़कर और कुछ है ही नहीं। हिन्दुस्तानी म्यूजिक के सुविज्ञ पण्डित और उसी विषय के अध्यापक श्री हेमेन्द्र बाबू ने (आप स्वर्गीय नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के भतीजे हैं) अपने तीन घण्टे के लम्बे व्याख्यान में हिन्दुस्तानी संगीत की महत्ता का प्रतिपादन किया। इसी सिलसिले में उन्होंने बताया कि 'कृष्ण की पनघट पर छेड़-छाड़' वाली घटना ब्रज-भाषा-साहित्य में इतने विचित्र रूप में प्रकट की गई है कि यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि इन शब्दो को सुनकर उस भाषा के बोलनेवालों का हृदय किस, प्रकार मयूर की भाँति नाच उठता है। कवि ने करीब डेढ़ घण्टे तक हिन्दुस्तानी संगीत के सम्बन्ध में समझाते हुए भाषा की इस मोहिनी शक्ति को स्वीकार ही नही किया नये प्रकाश में समझाया भी। वस्तुतः इस प्रकार की भाषा सृष्टि हो गयी कि लोग उसका अर्थ समझने की कोशिश किये बिना भी झूमने लगते हैं; पर जिन लोगों ने उस भाषा के 'जादू भरे उद्यान' में पैर रखने की कोशिश कभी भूलकर भी नहीं की, वे कृष्ण और राधा की इस प्रेम-मुखर भाषा में ईश्वर की दुर्दशा का आभास पाने लगते हैं। उपाय क्या है ?

व्रज-भाषा की कविता में कुछ विदेशी विलासिता का अस्तित्व भी है। बहुत सम्भव है, उसकी आमदनी मुसलमानी संसर्ग से हुई हो ; पर इस प्रकार की विलासिता में कवि राधा-कृष्ण को कभी नहीं घसीटता। ऐसी विलासिता हमारे आलोच्य विषय के परे है। हम उसकी चर्चा यहाँ नहीं करेंगे।

यहाँ इस प्रकार की विलासिता राधा-कृष्ण और गोपियों के नाम पर आ घुसी है कि उसे अनुचित कहने को जी चाहता है। प्रस्तुत प्रबन्ध शृङ्गार-रस के नाम पर की गयी अश्लील कविताओं की वकालत करने के लिए नहीं लिखा जा रहा है। आलोच्य विषय केवल व्रज-भाषा-काव्य का ईश्वर है ; इसलिए ही हम इस प्रकरण की अवतारणा कर रहे हैं।

व्रज-भाषा के युग में, हमने अब तक देखा है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति आ गयी थी कि कविगण तटस्थ रूप से अपनी सारी हँसी-खेल क्रीड़ा-कौतूहल युगल-मूर्ति में पर्यवसित कर दें। कवियों ने इस प्रकार के भाव-चित्र में अद्भुत सफलता पाई, रसिकों ने इस कविता का काफी सन्मान किया। ऐसा साहसी व्यक्ति शायद ही हो, जो सूरदास या नंददास के ऊपर [जिन्हें ग्रियर्सन के मध्य-युगीय मरमियों (Mystics) के Bernerd Clairvaux कहा है] भ्रष्टाचार फैलाने का अभियोग लगावे। परन्तु सूरदास की कविता में राधा और कृष्ण

प्रेम-लीला का साम्राज्य है। नन्ददास भी इस प्रेम-लीला की मस्ती में ही विभोर रहे। इधर गृहस्थ-शृङ्गारी कवियों की तो गिनती ही नहीं।

यह सारी कविता स्पष्ट है। सौन्दर्य को ठोस रूप में उपलब्ध करने का परिणाम यह हुआ है कि उसमें किसी रहस्य-भावना या आध्यात्मिक रूपक का प्रभाव नहीं है। शैली या वर्ड्सवर्थ के समान विशुद्ध प्रकृति का प्रेम व्रजभाषा के कवियों में ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा ; मिलेगी ससीम की लीला—मिलेगी सान्त की क्रीड़ा। तंत्र-साधना के उस आदर्श ने, जिसमें सीमा को असीम की उपलब्धि का कारण बताया गया है, व्रजभाषा के कवियों को बड़ी दूर तक प्रभावित किया था। उसी माधुर्य के फल-स्वरूप विष्णु का आसन कृष्ण के नीचे हो गया। गोलोक में सिवा कृष्ण के पुरुष का अस्तित्व जाता रहा। कृष्ण के प्रेमी राधिका की सखी हो गये। उस सख्य-भाव से वह युग प्लावित हो उठा था।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में की गयीं अनेक शृङ्गारी कविताओं में गोलोक की भावना ने यथेष्ट पुष्टि प्रदान की है। श्रीकृष्ण ही एक-मात्र पुरुष हैं, बाकी सब राधा रानी की सेविकाएँ. सखियाँ ; फिर संकोच काहे का, व्यवधान कैसा ? एक दूसरे प्रकार के भक्त थे. जो अपने को श्रीकृष्ण का सखा समझते थे। इन्हें भी अपने रसीले मित्र की रहस्यमयी कथाओं को खुल-कर गाने का अधिकार था। यह सब होते हुए भी व्रजभाषा

का कवि केवल तटस्थ साक्षी है। सखियाँ आकर कृष्ण और राधा के मिलन-विरह को नाना भाव-भंगी से प्रकट कर जाती हैं और श्रीकृष्ण के सखा या 'राधा ठकुराइन' की सखी हमारे कवि कठपुतली के नाच के सूत्राधार की भाँति, केवल सूत्र खींचा करते हैं। अपना नाम शायद वे साक्षी-रूप में रख देते हैं। इस प्रकार के सापेक्ष-निरपेक्ष द्वन्द्व से कवि एक विचित्र सौन्दर्य की सृष्टि तन्मय भाव से करता जाता है। भक्ति के प्रभाव में बहते समय भी वह तटस्थ है और शृङ्गार के सरोवर में स्नान करते समय भी तटस्थ है। इस मनोभाव को आप विचित्र कहना चाहें कहें; पर है यह अनुपम।

इस मनोभाव के साथ कवियों ने व्रजभाषा-साहित्य की सृष्टि की है। अब अगर इस विविध-विचित्रता-युक्त मनोभाव को बिना समझे कोई इस काव्य-कानन में प्रवेश करेगा, तो बार-बार प्रश्न करेगा कि जिन्हें परम ब्रह्म समझा जाता है, उनके नाम के साथ क्या कारण है कि हिन्दी के कवि धृष्टता से साथ इस तरह का दुर्व्यवहार बराबर करते रहे हैं? समाज के इस नैतिक पतन का क्या कारण है? इस तरह के साहित्य के प्रचार से समाज का उत्थान होना कैसे सम्भव है? हमारे जातीय या धार्मिक विकास में किन कारणों से यह घृणित प्रवृत्ति आ गयी? और यदि आ भी गयी, तो ... समाज ने नहीं

की ? ये और इसी प्रकार के सैकड़ों प्रश्न उठेंगे। वह आश्चर्य से समाज की इस सहन-शक्ति—नहीं-नहीं, भक्ति-प्रवणता को देखेगा।

पर उस युग का समाज—यह समाज अब भी लुप्त नहीं हो गया है—सौभाग्यवश, कवियों के अनुकूल था। श्रीकृष्ण के ज्ञान-भक्ति-कर्म के पूर्ण रूप में उसने उस माधुर्य को हृदयंगम करने में किसी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं किया, जिसे तात्कालिक कवियों ने समाज को दान किया था। श्रीकृष्ण के उस रस-मय विचित्र रूप पर उस समाज की प्रेम-भक्ति केन्द्रित हो गयी थी। कृष्ण और राधा उनकी अपनी चीज़ हो गये थे, और हैं। कृष्ण उनके साथ गाय दुहा करते थे, विरहा गाया करते थे, होली खेला करते थे, झूले में साथ ही झूला करते थे और उनके सभी प्रीति-स्निग्ध कार्यों को अपनी मधुर वंशी से प्लावित कर देते थे। राधा भी दूर नहीं थीं। नवोढ़ा के वासकशयनों पर वे फूल चुन दिया करती थीं, आगमिष्यत्-पतिका के साथ वे प्रतीक्षा-पथ पर रात एक कर देती थीं, कुमारी की मदिर आँखों में नटनागर की 'कलाबाजी-सी करति' आँखों को मिला देती थीं—फिर भी राधा और कृष्ण परम-शक्ति और परम-पुरुष थे! इतने नजदीक अथच इतने विराट्। जब तक समाज की इस मनो-वृत्ति को आप नहीं समझेंगे, आप उसी तरह चकित भाव से पूछ बैठेंगे—'और यदि (यह घृणित प्रवृत्ति) आ भी गयी,

तो क्या कारण है कि समाज ने इसके मूलोच्छेद की चेष्टा नहीं की ?' समाज आपके प्रश्न को सुनकर भीत-भाव से पूछ बैठेगा—कौन-सी घृणित प्रवृत्ति ? कैसा मूलोच्छेद ?

असल बात यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से हमारे नव-विचार-परायण पंडितो के हृदय में जहाँ तर्क की आग जल उठी है, वहाँ श्रद्धा भस्म हो गयी है। 'आर्ट ओ आहिताग्नि' ग्रन्थ के प्रणेता श्री यामिनीकान्त सेन ने गेटे से एक अंश उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि "आज का तरुण युवक कहता है—मैं किसी कला संप्रदाय का शिष्य नहीं हूँ। इस युग में कोई ऐसा जीवित मास्टर नही है, जिससे मैंने कुछ सीखा हो, मृत व्यक्तियों से तो मैंने कभी कुछ सीखा ही नहीं। इस युग का तारुण्य श्रद्धाच्युत हो गया है।" आज हम बीसवीं सदी के भारतीय तरुण गेटे के कथन के उदाहरण हैं। अश्रद्धा-भाव से हम किसी साहित्य का ज्ञान-संपादन करते हैं, समीक्षा करते हैं, बुरा या भला होने का फतवा देते हैं, और कल्पना कर लेते हैं कि उक्त साहित्य का उपजीव्य समाज हमारे ही जैसा तर्कपरायण और अश्रद्धावान था।

आगे हम व्रजभाषा-साहित्य के ईश्वर का जो विचार करेंगे, उसके लिए उसी ईश्वर—श्रीकृष्ण—की एक बात कह देना चाहते हैं—

"हे परन्तप ! इस धर्म पर श्रद्धा नहीं रखनेवाले पुरुष

मुझे न पाकर, फिर से इस मरणधर्मी संसार-मार्ग में लौट आते हैं।"

—(गी० ६-३)

ब्रजभाषा के कवि और युगल मूर्ति—

"टेरि कहौ सिगरे ब्रज लोगनि,
कालिह कोऊ कितनो समुझैहै।
माई री वा मुख की मुसुकानि,
सम्हारि न जैहैं न जैहैं न जैहैं।"

—रसखान

"कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सो,
टेरि कहौं सुनो ऊँचे गले।
हमें नीकी लगी सो करी हमने,
तुम्हें नीकी लगै न लगै तो भले।"

—ठाकुर

यही हैं ब्रजभाषा के मधुर कृष्ण! जरूरत समझो, ईश्वर कहो, न समझो, मनुष्य कहो। कवि का इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। अपने प्रशस्त प्रेम के विपुलायत राजमार्ग पर वह निर्द्वन्द्व, निर्भय और शान्त भाव से अग्रसर हो रहा है। तन्मयता के मधुर गीत को मानव-चरित्र की ससीम मर्यादा में प्रतिबद्ध रखकर वह अनन्त की ओर छूट चला है। उसके भगवान् तटस्थ की भाँति कहीं बैठे नहीं हैं। उसी के साथ प्रेम के नाना कल-कल्लोलों से उसके मनोमन्दिर को मुखरित

करके उसी के साथ खेल रहे हैं। संसार में जिस प्रकार स्त्री अपने लौकिक प्रेम को पति के साथ केंद्रित करके बाकी जगत् का अपने शुद्ध प्रेम से सिंचन करती है—उसी प्रकार यह कवि अपना लौकिक प्रेम मनमोहन पर केन्द्रित करके शेष संसार को अपने प्रेम से प्लावित कर रहा है। उसके मोहन प्राकृत ही हैं, कुछ अति-प्राकृत नहीं। प्रेम लौकिक ही है, अलौकिक नहीं; पर लौकिक प्रेम के विशुद्ध स्वरूप में अति-प्राकृत के अलौकिक प्रेम की सत्ता रहती है। संसार में हम अनन्त सत्य को ग्रहण नहीं कर सकते। सान्त का यथार्थ ज्ञान हमें अनन्त सत्य की ओर उन्मुख कर देता है। अगर हमारी शक्ति अल्प है, तो हमारा सान्त भी छोटा होना चाहिए। जितना ही वह छोटा होगा, उतनी ही अधिक पूर्णता के साथ हम उसका ज्ञान प्राप्त करेंगे। हमारा ज्ञान जितना पूर्ण होगा, जितना यथार्थ होगा, उतना ही हम अनन्त सत्य का अनुभव कर सकेंगे। व्रज-भाषा का कवि इस रहस्य को समझता है। उसने अपने प्रेम का दायरा संकीर्ण कर लिया है। यह संकीर्णता विशालता की उपलब्धि के लिए है। नदी में जल अगर कम हो, तो उसके दोनों कूलों का सटा-सा रहना उसके प्रवाह को अधिक निर्बाध और प्रखर कर देता है। संकीर्णता से गम्भीरता आती है, गम्भीरता से शाश्वत रस।

समझेंगे, तो आपका मन नाना प्रश्नों की कुहेलिका में मार्ग भूल जायगा। व्रज-गोपिकाओं की विरह-लीला, मिलन-वैभव, रहस्य-केलि और उपालंभ में वह उस प्रेम के रूप का यथार्थ परिचय पाता है, जो सहजगम्य है और जिससे सीमाहीन माधुर्य का साक्षात्कार होता है। इसकी परिधि संकीर्ण है, होने दो; लौकिक है, कुछ चिंता नहीं। मगर देखो, उसमें यथार्थता है या नहीं। अगर क्षुद्र की ही उपलब्धि हो सकी है, तो काम हो चुका है। ज़रूरत नही कि विशाल विषयो का जाल बिछाकर बैठे और कुछ हाथ भी न लगे।

ईश्वर क्या है? संयम का लक्ष्य? उपासना का उपजीव्य? ज्ञान का आश्रय? नेति, नेति, नेति!

ईश्वर क्या नहीं है? शृङ्गार-रस का वह प्रेम, जिसे नैतिकता के लक्षणों में नहीं ले आया जा सकता, देव, बिहारी, मतिराम की वे बातें, जिन्हें अश्लील कहने का प्रयत्न किया गया है, व्रज-बालाओं के मादक विरह का आश्रय, राधा का प्रेमी, सूरदास का श्याम क्या है? नेति, नेति, नेति!

वह क्या बात है, जिसके होने या न होने से ईश्वर का होना या न होना, सम्मानित या अपमानित होना निर्भर है? किस रास्ते से ईश्वर के मन्दिर तक जाया जा सकता है? किससे नहीं? व्रज-भाषा का कवि इन प्रश्नो की निस्सारता को समझता है। उसे ख़ूब मालूम है—'बेदम-से बेद-मतवारे मतवारे परे!' उसे सीधा सहज मार्ग मालूम है—प्रेम।

तत्त्ववाद के इस विकट युग में प्रेम की बड़ी खींचातानी हुई है। व्रजभाषी कवि इन दुरूहताओं को नहीं जानता। उसका प्रेम स्फटिक की भाँति उज्ज्वल है, उसी की तरह ठोस। अध्यात्मवाद की विकट गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न उसने किसी दिन नहीं किया। उसकी प्रेम-धारा विशाल नद नहीं है, संकीर्ण नाला है; पर गम्भीर तेजपूर्ण। उसे इसका अभिमान है। वह अपने मार्ग में निर्भीक भाव से प्रेम की मशाल लिये बढ़ रहा है—

"कवि ठाकुर प्रीत करी है गुपाल सों
टेरि कहौं सुनो ऊँचे गले !"

कितनी दृढ़ है यह निष्ठा! मानों वह वर्तमान युग के कवि के कण्ठ-में-कण्ठ मिलाकर कहना चाहता है—

"वैराग्य-साधना में मुक्ति है, हम इस मुक्ति को नहीं चाहते। असंख्य बंधनों में रहकर आनन्दमय मुक्ति का स्वाद लेंगे। इस पृथ्वी की मिट्टी के पात्र को बारम्बार भरकर (हमारी यह महा आनन्दमय मुक्ति) तुम्हारे नाना वर्ण और गन्ध को अविरत ढाला करेगी, समस्त संसार को प्रदीप की नाईं लाख-लाख वर्तिकाओं में जलकर प्रकाशित कर देगी।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर—नैवेद्य

वैराग्य के विपुल भार से जर्जर इस देश के अन्तस्तल में सहज प्रेम की निष्ठा को प्रज्वलित किया है, इन व्रज-भाषा के कवियों ने। कैसा वैराग्य? कैसा योग? शत-शत गोपियों

के कल-कंठ से योग-साधना के विरुद्ध अधिकारपूर्ण बातें भारतवर्ष में अगर सुनने को मिली है, तो युगल-मूर्ति के प्रेम में मतवाले इन कवियो की कृपा से। कहाँ है विरह का यह उड़ता हुआ स्रोत अन्यत्र ? इस विशाल विरह-वेदना पर शत-शत 'मेघदूत' न्योछावर हैं. हजार-हजार ताजमहल निसार हैं। इसी विपुल समुद्र को ईश्वर का अपमान कहते है आप ? कहिए। पर भूल न जाइए कि मध्य-युग का ईश्वर आज का ईश्वर नहीं है। एक तरफ है सहस्राधिक संप्रदायो के साधुओ के उपास्य नीरस, निष्काम, निर्गुण ईश्वर, और दूसरी तरफ है यह प्रेम का उद्गम. माधुर्य की सरिता, भक्ति का समुद्र, सौंदर्य का सर्वस्व. राधा-माधव की युगल-मूर्ति। आपको पसन्द हो, तो पहले को लेकर वैराग्य-साधना कीजिए। व्रज-भाषा के कवियो और रसिको को वह पसंद नहीं। योग की साधना व्यर्थ है उनके लिए। साफ कहता है—

'जिन जान्यौ जोग तौ जोग लै जरि मरौ !'

—देव

उद्धव को गोपियों ने जो संदेश दिया है. वह इतना साफ है कि उसमें आध्यात्मिक गूढ़ताओं को ढूंढना बेकार है। मगर उस विशाल प्रेम-वेदना के आध्यात्महीन होने से आध्यात्म का जगत् इतना निकट आ जाता है कि आश्चर्य होता है। 'मेघदूत' के अमर संगीत का सौंदर्य क्या है ? विराट् मानव का सनातन विरह। युग-युगान्तर का पुंजीभूत विरह प्रति-

निधि कवि के कंठ में शाश्वत रूप धारण कर गया! ताज-महल का सौंदर्य कहाँ है? पत्थरों में? होगा; पर वास्तविक सौंदर्य उसका है, उस शाश्वत विरह में। प्रेमी हृदय के उच्छ्वास ही पाषाण से फूटकर सौंदर्य का रूप धारण कर चुके हैं? और व्रज की इन गोपियो के मादक विरह का सौंदर्य कहाँ है? गोपियों में? उद्धव में? नहीं। उसका सौंदर्य उसी मधुर कल्पना में है, जिसने वासुदेव-देवकी-पुत्र कृष्ण को आनन्दकन्द मनमोहन के रूप में उपस्थित किया है, जिसने प्रेम की साक्षात् मूर्ति इन आभीर कन्याओं की सृष्टि की है। कितनी विराट् कल्पना है; पर कितनी कोमल!—

"ताहि अनादि अनन्त अखंड
अछेद अभेद सु वेद बतावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ
छछिया भरि छाँछ पै नाच नचावैं।"

इसे आध्यात्मवाद कहना चाहते हैं। "योरप का आधुनिक अध्यात्म-साहित्य". एक यूरोपियन कला के मर्मज्ञ का कहना है कि "काव्य या आर्ट में कहीं भी एक परिपूर्ण सामंजस्य के साथ आत्मा का सहज संपर्क नहीं स्थापित कर सका है। अतीन्द्रिय-जगत् की ओर जरूरत से ज्यादा खिंचाव होने के कारण वहाँ इंद्रिय-जगत् की ओर विशिष्ट प्रवृत्ति संभव नहीं हो सकी है।" एवमस्तु। अगर योरप के आध्यात्म-वाद की सचमुच यह दशा है—हमें ठीक पता नहीं—तो

कृपा करके इस अध्यात्मवाद से व्रज के अध्यात्मवाद—अगर नितान्त प्रयोजनीय ही समझते हों तो—की तुलना न कीजिए। कहाँ रूखा अध्यात्मवाद और कहाँ यह प्रेम प्लावित माधुर्य—

"कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।
कहँ श्यामल मृदु गात किशोरा !"

मनमोहन के इस मिलन-विरह में कहीं भी तुरीय-सत्ता की ओर इशारा नहीं किया गया। इसीलिए इसका माधुर्य अनुपम है, अवर्णनीय है। इसमें ईश्वर की धर-पकड़ अगर न भी की जाय, तो कोई हानि नहीं। रस का परिपाक उसी मधुरता के साथ होगा—

"मनमोहन के बिछुरे सजनी
अजहूँ तो नहीं दिन द्वै गये हैं।
सखि वे, तुम वे, हम वे ही रहीं
पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं।"

—पद्माकर

अगर व्रज का कवि इसी भाव को बार-बार दुहराता हुआ जीवन काट दे, और मनमोहन के केवल इसी अंश का पर्याप्त और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर ले, तो वह अपनी साधना को सफल समझ लेगा। यह क्या साधारण बात है ! सच है, मगर कुछ खो-सा गया है—"पर्युत्सुकी भवति यत् सुखि-तोऽपि जंतुः ?" यह ठीक है कि इसका दायरा संकीर्ण है, पर

क्या हुआ इससे ? वह विराट् की उपलब्धि के लिए तो मर नहीं रहा है, उसकी साधना तो सरस-उपलब्धि की है ! वह उसे मिल गया। उसका मधुर, उसका मोहन मिल गया, तत्त्ववाद जाय भाड़ में। इसकी उसे बिलकुल परवा नहीं।

व्रजभाषा के कवियों का ईश्वर मधुर और सुन्दर तो है ही, लौकिक विधि-निषेध के परे भी है। वह विधि का विधाता है; पर है घरेलू मित्र। श्रीकृष्ण के इन दोनों रूपों का सामंजस्य ही व्रज-भाषा-काव्य की विशेषता है, वही 'माडर्न-माइंड' से अगम्य भी है। विधि के विधाता मानव की लीला व्रज-भाषा का कवि सहज ही कह जायगा और अगर आपने कृष्ण के इस सामंजस्य को नहीं समझा है, तो घृणा तक करने लगेंगे। आप चकित की भाँति ताकते रहेंगे। और युगल-मूर्ति की पद-धूलि का मतवाला भिखारी सूरदास गा उठेगा—

"ऐसे जनि बोलहु नँदलाला !
छाँड़ि देहु अँचरा मेरो नीके जानत हौं श्रीबाला।
बारबार मैं तुमहिं कहति हौं परिहैं बहुरि जंजाला।
जोवन रूप देखि ललचाने सबहीं ते ए ख्याला।
तरुणाई तन आवन दीजै कित जिय होत बिहाला।
सूर स्याम उर ते कर टारहु टूटै मोतिन माला ॥"

क्या कहते हैं आप ? "सूरदास के समान भक्त के हृदय में ऐसी गंदगी और विलासिता कहाँ से आ गयी ?" आनन्द-

कन्द श्रीकृष्ण और श्रीपति राधा-रानी की रहस्यमय केलि से। भक्त की उस साधना को संसार में लोग जब तक नही समझेंगे, तब तक इस तरह के प्रश्न करेंगे। समझ लेने पर स्वयं अपने आप से ही पूछेंगे—कैसी गंदगी ? कैसी विलासिता ?

भगवान् बुद्धदेव ने, पूछने पर एक बार बताया था कि तथागत का धर्म उनकी मृत्यु के हजार वर्ष बाद तक रहेगा, इसके बाद विकृत हो जायगा। हुआ भी ऐसा ही। वह युग ही ऐसा था, जो अविचलित चित्त से एक साधना को अनायास ही वर्षों तक वहन कर सकता था ; पर बीसवी शताब्दी के बुद्ध महात्मा गाँधी से पूछिए कि आपका धर्म कितने दिनों तक रह सकेगा ? विश्वास के साथ वे सा वर्ष भी नहीं कह सकेंगे। स्वामी दयानन्द को मरे सौ वर्ष भी नहीं हुए कि उनके महान् आदर्श पर स्थापित विधवाश्रम क्या-से-क्या हो गये। यही है हमारा नैतिक-समुत्थान का युग ! और बीसवीं शताब्दी की इसी प्रबुद्ध नीतिमत्ता का मुकुट पहनकर हम घृणा-भरी आँखो से ग्रीक कलाकारो को डाँट देते है—"बर्बर ग्रीक ! अपने उपास्यों की यह नग्न प्रतिमा ! देवी-देवताओं का यह जघन्य अंकन !!" ईजिप्शियनों की चित्रकला देखकर गरज उठते हैं—"असभ्य ईजिप्ट ! राजहर्म्य में नग्न परिचारिकाएँ, और उनका चित्रण !!" फारस के कवि पर आँखें तरेर कर कहते है—"विलास-पंक में निमज्जित कवि, सुरा ही तेरी आराध्य देवी है !" संस्कृत के कवियों पर बरस

गाय होकर भी रह सकेगा, यदि उस 'साँवरे मीत' का दर्शन हो सके। वह पक्षी बनना भी अच्छा समझेगा, यदि प्रिय का केलि-कदंब उसका बसेरा हो सके। वह पत्थर भी बन सकेगा, यदि उस लीला-मय की उँगलियों का स्पर्श कर सके! क्या कहेंगे आप इस तन्मयता को? बालगोपाल की कारी कमरिया पर वह 'तिहूँ पुर कौ राज" वार सकता है। नंद की गायों की चरवाही करने का अवसर मिल जाय, तो आठों सिद्धि और नवोनिधि को वह अनायास ही ठुकरा सकता है। कोटि-कोटि कलधौत के धाम वह उन करीर के कुञ्जों पर न्योछावर कर सकता है। यह है उसकी गहन साधना! पर यही स्वर्ग और अपवर्ग को ठुकरा देनेवाला कवि आपको आश्चर्य में डालकर गा उठता है—

"रोकत हौ बन में 'रसखानि'
चलावत हाथ घने दुख पैहौ।
जैहैं जो भूषन काहू तिया के
तो मोल छला के लला न बिकैहौ।

❀ ❀ ❀

हाँसी में हार हर्‌यौ 'रसखानि'
जु जो कहुँ नेकु तगा टुटि जैहैं।
एक ही मोती के मोल लला
सिगरे ब्रज हाटक-हाट बिकैहैं।"

यह है रस-कवि की मधुर और विषम साधना। आप

कहेंगे इस साधना में अश्लीलता है। जरूर है। लोक-धर्म बन जाने पर कौन-सी ऐसी साधना है, जिसमें कलुषवृत्त पुरुष न आ घुसे हों? परन्तु सारी ब्रजभाषा की कविता में आप मुश्किल से ऐसी एक-आध अश्लील कविता पायेंगे, जिसमे युगल-मूर्ति की मर्यादा के प्रति श्रद्धा का भाव न हो। कवि सब कह जायगा, मगर एक मर्यादा के प्रति श्रद्धा रखकर। यह क्या मामूली साधना है? प्रेम के उच्चतम स्तर से लेकर निम्नतर स्तर तक मर्यादा के प्रति एकनिष्ठा, सो भी कितने दिनों तक? सौ-पचास वर्ष नहीं, कम-से-कम एक सहस्राब्दी तक!!

संसार का यह एक विचित्र रहस्य है कि प्रेम की आँखो से देखने पर जो बात जितनी ही आकर्षक होती है, घृणा की नजरों से देखने पर वह उतनी ही गर्हित। प्रायः देखा गया है कि धार्मिक आक्षेप करनेवाले उन्हीं बातों में अधिक दोष देखते हैं, जिनसे उस धर्म के अनुयायी अधिक प्रेम करते है। ईसा के मेघ-पाल रूप में करुणा का जो श्रोत फूट पड़ा है, ईसाई धर्म के आलोचकों को उसी में भेड़िया-धसान दिखाई देता है। बुद्धदेव ने संसार की क्षण-भंगुरता पर बड़ा जोर दिया था। सहस्र-सहस्र बौद्ध-भिक्षु संसार की इस क्षणिकता को शाश्वत के रूप में परिणत करने के लिए गृह-त्यागी हो गये; पर बौद्ध-दर्शन के विरोधियो ने इस पर महज पिल पड़ने की कृपा ही नहीं की, इसके अतिरिक्त उनकी राय में बौद्ध

धर्म का और कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया। विरोधी दर्शनों में बौद्ध-क्षणिक-वादी के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। हिंदुओं ने मूर्ति-पूजा के प्रति अपनी इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा व्यक्त की थी कि धन-रत्न सर्वस्व उस पर चढ़ा दिया था। आक्रमण-कारी मुसलमानों को यही बात सब से अधिक खटकी। आज अगर कोई हिंदूधर्म का उपहास करना चाहे, तो उसे इन कवियों की कृतियों में काफी मसाला मिलेगा। उपाय क्या है?

आज से कम-से-कम ढाई हजार वर्ष पहले देव-देव वासुदेव का आविर्भाव हुआ था। तब से अब तक संसार के विविध उत्थान-पतनों के बीच से गुजरते हुए श्रीकृष्ण ने नाना भावों से विचित्र आकार ग्रहण किया है। ज्ञान की सर्वोच्च प्रतिमा गीता का प्रवचन करा के उन्हें जहाँ विशुद्ध ज्ञान के सिंहासन पर बैठाया गया है, वहीं गोपियों के प्रेम को आश्रय-भूमि बनाकर उन्हें प्रेम-राज्य का सर्वस्व स्वीकार कर लिया गया है। बुद्धि और भाव—Intellect और Emotion—के अवतार, ढाई हजार वर्ष की विपुल साधना के साध्य को अगर लोग उपहास की फूँक से उड़ा देना चाहते हैं, तो उचित तो नहीं कर रहे हैं, और चाहे जो करते हों। इस ढाई हजार वर्ष तक की एकांत निष्ठा को छीछालेदर कहते हैं? किमाश्चर्यमतः परम्।

आज हम कविता में विशुद्ध प्रकृति-प्रेमी हो गये हैं और धर्म में विशुद्ध ईश्वर-प्रेमी! यह प्रेम हम प्रेम के लिए नहीं

कर रहे हैं, नैतिकता के लिए कर रहे हैं। शीलर (Schiller) कहते हैं—This kind of pleasure at the sight of nature is not an *aesthetic* pleasure but a moral one, for it is arrived at by means of an idea. Whence comes this different sense? How is it that we who in every thing related to nature are inferiors to the ancients, should pay such homage to her, should cling so heartily to her and be able to embrace the inanimate world with such warmth of feeling? It is not our greater conformity to nature but on the contrary, the opposition to her........which is inherent in our conditions and customs that impels us to find some satisfaction in the physical world. (प्रकृति में इस श्रेणी का आनंद हम सौंदर्य-बोध की ओर से नहीं पाते; पाते हैं नैतिकता की ओर से; क्योंकि यह एक विशेष धारणा से प्राप्त हुआ है। किस प्रकार प्राचीन लोगो की और हमारी धारणाओं में अंतर आ उपस्थित हुआ? जहाँ तक प्रकृति से संबंध है, हम उनसे निम्नतर ही हैं। फिर भी हम प्रकृति को अपना अर्घ्य चढ़ा रहे हैं. अनुभूति की ओर से जड़-जगत् को आलिंगन करने जा रहे हैं। इसका मतलब क्या है? यह प्रकृति के साथ हमारे वृहत्तर योग से नहीं हुआ है; बल्कि उलटे, इसलिए हो सका है कि आचार-व्यवहार में हम प्रकृति

के विरोधी हो गये हैं और आज उसी भौतिक जगत् के भीतर कुछ सन्तुष्टि खोजने की चेष्टा हो रही है)।

शीलर के इस कथन में प्रकृति के साथ ईश्वर को भी जोड़ देने की जरूरत जान पड़ती है। व्रजभाषा-कविता पर विचार करते समय हमें ईश्वर-प्रेम के इस आधुनिक दृष्टिकोण का सहारा नहीं लेना चाहिए।